

१६  
रसतरंगिणि ।  
भाषाटीका सहित ।



**COLLECTION OF VARIOUS**  
→ HINDUISM SCRIPTURES  
→ HINDU COMICS  
→ AYURVEDA  
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with  
By  
Avinash/Shashi

[creator of  
hinduism  
server]

 KAPWING

॥ श्रीः ॥

श्रीभानुमिश्रविरचित—

## रसतरंगिणी ।

जयपुर राजकीय संस्कृतपाठशालाके प्रधान न्यायशास्त्राध्यापक  
साहित्य धुरंधर दर्शनपारदशा गुरुपदविभूषित श्रीपण्डित  
जीवनाथजी ओझा विरचित भाषाटीका सहित ।

जिसको

खेमराज श्रीकृष्णदासने

बम्बई

खेतवाडी ७ वीं गली खम्बाटा लेन  
निज “श्रीवेङ्कटेश्वर” स्टीम-मुद्रगयन्त्रालयमें  
मुद्रितकर प्रकाशित किया ।

संवत् १९७१, शक १८३६.

इसका सर्वाधिकार “श्रीवेङ्कटेश्वर” यन्त्रालयाध्यक्षने  
स्वार्थीन रखा है ।

पटिडतवर श्रीजीवनाथजी ।



॥ श्रीः ॥

# अथ रसतरंगिणी ।

## भाषाटीकासहिता ।

प्रथमस्तरङ्गः १

लक्ष्मीमालोक्य लुभ्यन्निगम्मुपहसञ्चोचयन्यज्ञजन्तु-  
न्क्षत्रं शोणाक्षि पश्यन्समिति दशमुखं वीक्ष्य रोमाञ्चमञ्चन् ।  
हत्वा हैयंगवीनं चकितमपसरन्म्लेच्छरत्तैर्दिंगन्ता-  
न्सञ्चन्दन्तेन भूमिं तिलमिव तुलयन्पातु नः पीतवासाः ॥ १ ॥

अभिमतग्रन्थसमाप्तिप्रतिबन्धकविज्ञविधातके अर्थ ग्रन्थप्रतिपाद्यरसरूपता करिके इष्टदेवताकी बारम्बार स्तुति करते हैं “लक्ष्मी” इत्यादि क्षोकसे । क्षोकार्थ यह है कि पीतवस्त्रयुक्त श्रीकृष्ण इमारी रक्षा करो । यहां रक्षा शब्दका अर्थ ग्रन्थ-समाप्तिप्रतिबन्धकदुरितदूरीकरणकरिके समाप्त्यनुकूल धन स्त्री आदि सम्पत्ति दान अभिव्यक्ति करना है । इस क्षोकमें आठवाक्यांकरिके आठही रसकी स्वरूपता परमेश्वरकी वर्णन करते हैं । तहां रसोंमें पहिले शृंगार रस है । उसीको आरम्भ करिके श्रीकृष्णकी रसस्वरूपता वर्णन करते हैं ॥ क्या करते हुवे रक्षा करो सो कहते हैं कि लक्ष्मीको देखकरिके आकांक्षा करते हुवे । इस स्थलमें जिस रीतिसे ‘अधीत्यतिष्ठति’ यहां स्थितिके पूर्वकालमें अध्ययन बोध नहीं होता है किन्तु जिस जिस समय स्थिति होती है उस उस समय अध्ययन होता है । यह जो कालविशेषावच्छिन्न व्याप्ति सो क्त्वा प्रत्ययका अर्थ होता है । इसी रीतिसे यहां भी भगवान्‌के हृदयमें लक्ष्मीको मैं देखूँ ऐसी आकांक्षा होती है, उसी समय लक्ष्मीका दर्शन होता है यह जो कालविशेषावच्छिन्न व्याप्ति सो ही “क्त्वा” प्रत्ययका अर्थ है । और आकांक्षाके पूर्वकाल लक्ष्मीका दर्शन होता है यह अर्थ नहीं है । क्योंकि आकांक्षाकालमें भी दर्शन होताही है इससे पूर्वकालका बाध होनेसे क्त्वा प्रत्यय बाधित होजायगा और यह अर्थ क्त्याप्रत्ययका करनेसे विप्रलम्भकाभी अभिव्यञ्जन होता है, इसलिये पूर्वकाल क्त्वाप्रत्ययका अर्थ नहीं जानना किन्तु पूर्वोक्त कालविशेषावच्छिन्न व्याप्तिही क्त्वाप्रत्ययका अर्थ जानना । अथवा लक्ष्मीको देखकरिके आलिंगनादिकी आकांक्षा करते यह अर्थ जानना । यहां रमाविभ्रम-

विलासावलोकन करिके तदंगालिंगनचुम्बनप्रवणचित्त जो पीताम्बर भगवान् सो निज वेषविलासादिको नवीन करते शृंगाररसस्वरूप हैं, यह अर्थ व्यंजित भया। फिर क्या करते हुए वेदका उपहास करते हुए। मुनि, भण्ड और निशाचर यह तीन वेदके करनेवाले हैं ऐसे अर्थके “त्रयो वेदस्य कर्तारो मुनिभण्डनिशाचराः” इस सूत्रका प्रणयनकरिके वेदोषहास करते यह कहनेसे भगवान् हास्यरस स्वरूप हैं यह सूचित किया। कहीं ‘उपहरन्’ ऐसा भी पाठ है तदनुसार ऐसा अर्थ जानना चाहिये कि मत्स्यका स्वरूप हो करिके शंखासुरको मारि करके वेदका उपहार करते यह कहनेसे तिर्यग जातिका अनुकरण करनेसे भगवान् हास्यरसस्वरूप हैं, यह अर्थ सूचित हुआ। फिर क्या करते हुए, यज्ञपशुओंका शोच करते भये अर्थात् यज्ञमें पशुका आलम्भन देखकरके आप शोक करते हैं और अन्यको भी शोक-युक्त करते हैं। यह कहनेसे करुणारसस्वरूप भगवान् हैं यह सूचित किया। फिर क्या करते हुए, लाल नेत्र करिके क्षत्रियसमूहको देखते अर्थात् क्षत्रियोंका अविनय देखकर क्रोधवश रक्तनेत्र मैं परशुराम क्षत्रियसमूहका मर्दन कर्त्ता ऐसा कहते इससे रौद्ररसस्वरूपता सूचित करते हुए। फिर क्या करते हुए सङ्ग्राममें रावणको देखकरिके रोमाञ्चको प्राप्त होते हुए यह कहनेसे सुरासुरका जीतनेवाला रावण संग्राममें प्राप्त हुवाहै इस पर बड़ा भयानक युद्ध मैं करूँगा इस उत्साहसे शोभायमान रोमहर्षयुक्त रामचन्द्र बीररस-स्वरूप हैं यह सूचित हुवा। फिर क्या करते हुवे, नवनीत धृत तत्कालमें पक है इस इत्युत्से हरण करिके अर्थात् चोर करिके चकित जैसे होय तैसे यशोदा हमको लाडना करैगी इस भयसे भागते हुए, यह कहनेसे भयानक रसस्वरूप भगवान् हैं यह सूचित हुवा। फिर क्या करते हुवे म्लेच्छोंके रक्तसे दिशाओंके अन्तको सींचते हुवे, यहां जुगुप्सा अभिव्यञ्जित होतीहै। इस जुगुप्सासे बीभत्सरसस्वरूप भगवान् हैं यह सूचित हुवा। फिर क्या करते हुवे, सूकरावतारमें दाँतसे पृथ्वीको तिलके परिमाणके तुल्य धारण करते हुवे। यहाँ एकोनपञ्चाशत्कोटि योजन परिमित जो पृथ्वी सो दंतसे धारण की गई तब तिलपरिमिता शोभित होती भई। इस विस्मयोक्तिसे अद्वृतरसस्वरूप भगवान् हैं यह सूचित हुवा ॥

### द्वितीयपक्षव्याख्या ।

पीत अर्थात् अपहृत किया है गोपियोंके पहिरनेके बख जिसने सों पीतवास “पीतानि अपहृतानि वासांसि परिधानीयानि अर्थादोपीनां येन सं पीतवासाः” इस अर्थको कहता हुवा पीतवास पद नानाविधकीडाविट्ककों कृष्णमें सूचित करताहै। यहां शब्दशक्तिमूल व्यंजना जानना। यहां शृंगार और

हास्य दोनों रसोंकी प्रतीति होतीहै । अथवा पीत अर्थात् मृत जो गुरुपुत्र उसके लिये जो गमनकरै सो हुवा पीतवा “षीताय मृतगुरुपुत्राय वाति गच्छति इति पीतवाः” तो यह फलित हुवा कि मृत गुरुपुत्रको लानेके लिये गमन करनेवाला, यह पीतवा शब्दका अर्थ हुवा । और फैका जाय जिसको वह हुवा अः अर्थात् सुदर्शनचक्र उसकरिके सहित जो होय वह हुवा साः “अस्यते क्षिप्यते इति अः सुदर्शनचक्रम् तेन सहितः साः” पीतवा ऐसा जो साः वह हुवा पीतवासाः “पीतवाः चासौ साश्रेति कर्मधारयः” तो यह अर्थ फलित हुवा कि मृतगुरुपुत्रके लानेके लिये गमन करनेवाला जो सुदर्शनचक्रयुक्त पुरुष उसको पीतवासाः कहना । यह कहनेसे अद्भुत और रौद्रसकी प्रतीति हुई । अथवा चलनेवाला हुवा वा “वातीति वाः” अर्थात् पवन । पीया है पवन जिसने वह हुवा पीतवा अर्थात् सर्प या राक्षस “पीतः वाः येन सः पीतवाः” पीतवाका जो मारनेवाला वह हुवा पीतवासाः “तं स्यतीति पीतवासाः” । सम्पूर्ण प्रकारकरिके जो असत्पुरुष हैं उनमें समानतासे वर्तनेवाला जो है वह हुवा आस् “समन्तात् असति समतया वर्तत इत्यास्” पीतवासा ऐसा जो आस् सो हुवा पीतवासाः “पीतवासाश्चासावास् चेति पीतवासाः” तो यह अर्थ फलित हुवा कि पीतवा अर्थात् वायुको पान करनेवाले ऐसे जो ब्याल राक्षसादि उनका मारनेवाला ऐसा जो असत् में समानरूपतासे वर्तनेवाला पुरुष सो हुवा पीतवासाः यह कहनेसे वीरशान्तकी प्रतीति हुई ॥ अथवा स्थिति होय जिससे उसको कहना आस “आस्यते स्थीयतेऽनेनेत्यासः” अर्थात् स्थितिकरण आसशब्दार्थ हुवा । अथवा स्थितिही आसशब्दार्थ है “आसनमासो भावे घञ्” और गया है धैर्य वा धैर्यकरण पुत्रादि जिन दोनोंका वे हुवे वास अर्थात् देवकी वसुदेव “वाति गच्छति आसः धैर्य धैर्यकरणं पुत्रादि वा यपोस्तौवासौ देवकी वसुदेवौ” उन दोनोंके प्रति जो स्थित होय वह हुवा वासास् “तौ प्रत्यास्ते इति वासाः” और पीत जो शब्द है सो पानकर्ताको कहताहै सो पानदुग्ध दधिका जानना पीत ऐसा जो वासाः वह हुवा पीतवासाः तो यह फलित हुआ किंदधि दुग्धका पान करनेवाला ऐसा । और वास् अर्थात् धैर्य वा धैर्यकरण गया है जिनका ऐसे जो देवकी वसुदेव उनके प्रति स्थित होनेवाला पुरुष यह कहनेसे भयानक और करुणा दो रसकी प्रतीति हुई । अथवा वासा जो है सो ही वासा अर्थात् मांस तहाँ जो स्थित होय वह हुवा वासास् अर्थात् रुधिर पान कियाहै वासास् अर्थात् पूतनाका रुधिर जिनने वे हुवे पीतवासाः “वसैव वासा मांसं तत्रास्त इति वासा रुधिरम्, पीतं वासाः येन सः पीतवासाः” यह कहनेसे यह अर्थ फलित हुवा कि पान किया है पूतनाका रुधिर जिसने उसको पीतवासाः कहना । यह कहनेसे वीभत्सरसकी प्रतीति हुई । इस रीतिसे

पीतवासा: इस शब्दमेंही नौ रसकी प्रतीति हुई ऐसे जो श्रीकृष्ण सो हमारी रक्षा करो ॥ क्या करते हुवे लक्ष्मी जो हरिप्रिया उसको देखकरि कै अनुराग करते हुवे । यह कहनेसे नृसिंहावतारमें अत्यन्त क्रोध शान्त्युपायका अन्वेषण करनेवाले देवताओंने लक्ष्मीको आगे स्थापित की, तब नृसिंह लक्ष्मीमें आसक्त होगये यह जो पुराण प्रसिद्धार्थ सो सूचित हुवा । फिर क्या करते हुवे वेदका उपदास करते हुवे, इस ही लिये यज्ञोपयुक्त पश्चादिकोंका शोच करते हुवे अर्थात् वृथा ये पशु मारे गयेहैं यह प्रतिपादन करते हुवे । इन दोनों बातोंसे बौद्धावतारमें वेदकी निन्दा और पशु-घातकी निन्दा की यह सूचित हुवा । फिर क्या करते हुवे क्षत्रियजातिको लालनेत्र कर देखते हुवे यह कहनेसे परशुरामावतारमें क्रोधावेशसे सम्पूर्ण क्षत्रियोंको देखा यह अर्थ सूचित हुवा । इसही रीतिसे संग्राममें रावणको देखकरि कै रोमाञ्चको प्राप्त होतेहुए यह कहनेसे रामावतारमें सङ्घ्याममें रावणको देखकरि के उत्साहयुक्तता प्रतीत हुई । फिर क्या करते हुवे, अतीतदिनका गोदोहोद्भव तात्कालिक वृत्तका हरण करिके चकित जैसे होय तैसे अर्थात् व्याकुलान्तःकरण होकरि के दौड़ते हुवे, यह कहनेसे कृष्णावतारमें यशोदासे भीतिको प्राप्त हुवे यह सूचित हुवा । इसही रीतिसे म्लेच्छोंके रुधिरसे दिशाओंके अन्तको प्रोक्षण करते यह कहनेसे कलिक अवतारमें किया हुवा जो रुधिरसेक उससे बीमत्स सूचित हुवा । इसही रीतिसे दांतसे भूमिको तिलकी तरह उछार करते, यह कहनेसे जिस रीतिसे प्राकृत पुरुष अनायाससे तिल-को उठाता है इसही तरह वराहावतारमें पृथ्वीको उठालिया यह सूचित हुवा । यहाँ यह शंका होतीहै कि यद्यपि “भग्नं कामरिपोर्धनुः” इत्यादि वक्ष्यमाण जो रसशब्लोदाहरण उसकी रीतिसे एकही व्यक्तिमें नानारसका प्रतिपादन करनेमें समर्थ होसकते हैं, फिर भिन्न भिन्न स्वरूप भगवान्‌का वर्णन करिके भिन्न भिन्न रसप्रतिपादन करनेमें क्या फल है ? यह शंका ठीक है, तथाऽपि एकरसप्रधानताको प्रकाशकरनेके लिये तत्त्व अवतारमें तत्त्व रसका प्रदर्शन किया ऐसा हुवा तो वाक्यभेदसे एकैक रसकी एकैक अवतारमें प्रतीति होनेसे विरोधकाभी प्रसरण नहीं हुआ, यह भी अनुग्रण हुआ । यदि एकहीमें सब रसोंका प्रतिपादन करते तो रसशब्ल नामक रसान्तर ही प्रतीत होजाता । आगे कहेंगे कि “एकः सिन्धु-भुवः करे विलुलितः” इत्यादि श्लोकोंमें रसशब्लनामक रसान्तरका प्रतिपादन है । प्रकृतमें भी इसही रीतिसे होजायगा । और विवक्षित जो नवरसप्राधान्यप्रतिपादन सो नहीं होगा इसलिये भिन्न भिन्न अवतारमें भिन्न भिन्न रसका प्रतिपादन यहाँ किया सो हुवा तो एक ही पुरुषका अप्रतिहत इच्छा विना अनुपपद्यमान तत्तदवतारताके प्रतिपादनके द्वारा शान्तरसका भी प्रतिपादन कियागया क्योंकि अप्रतिहत इच्छा शान्तरस विना नहीं होतीहै ॥ १ ॥

भारत्याः शास्त्रकान्तारश्रान्तायाः शैत्यकारिणी ॥  
 क्रियते भानुना भूरिरसा रसतरंगिणी ॥ २ ॥  
 वाणी कमलिनी भानोरेषा रसतरंगिणी ।  
 हंसाः कृतधियस्तत्र युक्तमत्र प्रतीयताम् ॥ ३ ॥  
 गिरां देवि तरंगिण्यां वारय क्रूरवारणान् ॥  
 यद्भविष्यति लोकानामाविलो विमलो रसः ॥ ४ ॥

अब यह शंका होती है कि प्रकृत ग्रन्थको तत्त्वाख्यप्रसिद्ध अर्थ जो आत्मा उस आत्माकी प्रतिपादकता “रसो वै सः” इस श्रुतिसे समान ही है। क्योंकि आत्मा और रसका स्वरूप भिन्न नहीं है। तो रसप्रतिपादनमें भी आत्माका ही प्रतिपादन हुआ तो सकलः शास्त्रसे विशिष्टता इसमें नहीं हुई, फिर नवीन ग्रन्थके आरम्भसे क्या फल है? यह सत्य है तो भी लौकिक आहादका आधिक्यसे जो प्रतिपादन करना सो अतिसुकुमार जो राजकुमार और शास्त्रव्याकुलितान्तःकरण जो जन उनके भी अन्तःकरणके बिनोदपुरःसर निरूपणीयार्थके ज्ञानके निमित्त होगा। इसलिये यह नवीन ग्रन्थका आरम्भ है यह “भारत्याः” इत्यादि क्षोकसे कहते हैं। क्षोकार्थ यह है कि भानुमिश्र “रसतरंगिणी” ग्रन्थ बनाता है परन्तु इस ग्रन्थमें रसका आधिक्य होनेसे ही तरङ्गाकुलतासे रसतरंगिणीपदप्रतिपाद्यता सम्भवेगी इस हेतु इस ग्रन्थको विशिष्ट करते हैं “भूरिरसा” इत्यादि वाक्योंसे। कैसी है रसतरंगिणी, बहुत है रस जिसमें ऐसी। फिर कैसी है कि शास्त्ररूप जो बन उसमें थकी हुई जो सरस्वती तारीं शैत्यकारिणी अर्थात् सुखावगमहेतु है ॥ २ ॥ इस ग्रन्थमें रसोद्घोषसे सहदयजनकाही अधिकार है यह बात “वाणी” इत्यादि क्षोकसे कहते हैं। क्षोकार्थ यह है कि यह बुद्धिस्थित रसतरंगिणी अर्थात् इस प्रतिपादक वाक्यावलीगुम्फतासे परिणता तरंगिणी है, तहाँ उदाहरणपरताकरिकै परिणता जो भानुदत्तवाणी सो कमलिनी है। कृतवी अर्थात् पण्डित यही हंस हैं। यहीं जलांशकों त्यागकरिकै दुग्धसारग्रहणकी तरह युक्तार्थ ही प्रतीतिविषय हो ॥ ३ ॥ कर्कश जनको इस ग्रन्थमें अधिकार नहीं है। यह बात “गिरां देवी” इत्यादि क्षोकसे कहते हैं। क्षोकार्थ यह है कि, हे वचनकी देवी! अर्थात् सरस्वती! कूर अर्थात् दुष्टान्तः-करण जो हैं सो ही वारण अर्थात् गज, उनको इस ग्रन्थमें मत प्रवेश करनेदें उनके नहीं प्रवेश करने देनेसे नानाग्रन्थावलोकन करनेवाले जो रसिक जन, तिनको आविल अर्थात् कठोरपुरुषका कुतर्ककर्दमोत्थापनकारिकै अनाहादक रस विम ३ अर्थात् हृदयाहादक होजायगा ॥ ४ ॥

हेतोः पूर्ववृत्तित्वनियमादतः पूर्वमेव तस्योपन्यासः  
समुचितः । रसस्य हेतवो भावादयः । तेन रसेभ्यः  
पूर्वं भावादय एव निरूप्यन्ते । रसानुकूलो विकारो  
भावः । विकारोऽन्यथाभावः ॥

इस ग्रन्थमें रसका निरूपणही उद्दिष्ट है इसलिये भावनिरूपण यहाँ अप्राप्तकाल है । फिर रस निरूपणका त्यागकरिके प्रथम भावनिरूपण क्यों करना ? इस शंकाका समाधान “हेतोः” इत्यादिग्रन्थसे करतेहैं । कारणको कार्यका पूर्ववृत्तित्वनियम है । इसलिये प्रथमही कारणका उपन्यास योग्य है । प्रकृतमें रसके कारण भावादिक अर्थात् भावप्रधान भाव, विभाव, अनुभाव हैं । इस हेतु रससे पूर्वं यथाक्रम भावादिकोंका निरूपण करतेहैं । तहाँ प्रथम भावका निरूपण “रसानुकूल” इत्यादि ग्रन्थसे करतेहैं । अब यहाँ यह शंका होतीहै कि रससे पूर्वं भावादिकोंका निरूपण करना तो ठीक है परन्तु भावादिकोंमें पहले स्थायिभावनिरूपण, पीछे विभावनिरूपण, पीछे अनुभावनिरूपण पीछे सात्त्विकभावनिरूपणपश्चात् व्यभिचारिभावनिरूपण यह क्रमविरुद्ध है क्योंकि रसके कारण तो सम्पूर्ण हैं । तो प्रथम स्थायिभावहीका निरूपण करनेमें क्या हेतु ? व्यभिचारिभावहीका निरूपण क्यों नहीं किया ? अथवा विभाव अनुभावका निरूपण क्यों नहीं किया ? यदि तुम यह कहो कि इन सबकी अपेक्षा स्थायी सुन्दर है । सम्पूर्ण भाव इसहीको प्राप्त होकरिके रसरूप होतेहैं, इससे स्थायी श्रेष्ठ है । अत एव प्रथम निरूपण किया यह ठीकहै । परन्तु विभावादिकी अपेक्षासे सुन्दरता होनेसे व्यभिचारिभावनिरूपणही स्थायिनिरूपणानन्तर प्रसंगसे उचितहै क्योंकि अन्तरभाव दो प्रकारके कहेहैं । एक स्थायी और दूसरा व्यभिचारी । तहाँ स्थायिनिरूपणानन्तर व्यभिचारिनिरूपण उचितहीहै । स्थायिनिरूपणानन्तर विभावादिनिरूपणकरिके व्यभिचारिनिरूपण करना उचित नहीं । यह शंका समीचीन है, तथापि तुल्ययुक्तिकरिके स्थायिभाव और व्यभिचारिभावकोभी विभाव कारण होतेहैं, इस हेतु स्थायिभावनिरूपणसे पूर्वं विभावनिरूपण प्राप्त हुआ फिर विभावनिरूपणके बिना स्थायिभावनिरूपण कैसे किया ? परन्तु वक्ष्यमाण रीतिसे स्थायिके ज्ञानकरिके जाननेलायक जो विभाव हैं उनका स्थायिके निरूपणके पूर्वं निरूपण नहीं करसकतेहैं । इस हेतु विभावके पूर्वं स्थायिका निरूपण किया, पीछे विभावका निरूपण किया । और अनुभाव जो है सो दोनोंही प्रकारका अर्थात् रसका अनुभाव और व्यभिचारीका अनुभाव व्यभिचारिभावके व्यञ्जनमें योग्य है । इसलिये विभावोत्तर अनुभावका निरूपण किया और सात्त्विकभावको तो द्विरूपताहै अर्थात् सात्त्विकभाव व्यभिचारिरूपभी है व अनुभावरूपभी है । यह सूचन करनेके अर्थ

अनुभाव व्यभिचारिभावके मध्यमें निरूपण किया इसलिये सम्पूर्ण निरूपण सम्यक्ष है कोई विरुद्ध नहीं । इसके अनुकूल जो विकार सो भाव कहाजाता है । इसकी व्याख्या कोई इस तरहसे करते हैं कि रसके अनुकूल जो ज्ञान उसका जो विषय इसही हेतु विकाररूप जो वस्तु सो भाव है । यहाँ अज्ञायमान जो वस्तु सो ज्ञायमान होय यही विकार है । जिस वस्तुका ज्ञान रसके अनुकूल होय वही भाव है । यहाँ यह शंका होती है कि ऐसा भावका लक्षण कहा तो हावकाभी ज्ञान रसके अनुकूल होता है तो हावभी भाव कहावेगा । इसका समाधान यह है कि हावभी भावही है इसलिये भावलक्षण यही रहा तो कोई दोष नहीं । भाव होनेसे लक्ष्यभी जो हाव है उसका हावसे पृथक् निरूपण होगा तो भी कुछ अनुचित नहीं है । ऐसा जो भावलक्षण हुआ तो भावलक्षणमें किसी पण्डितने यह दोष दिया है कि नायिकादि जो आलम्बन विभाव और चन्दनादि जो उदीपन विभाव सो भी भाव कहते हैं । तहाँ इस भावलक्षणकी अव्याप्ति होगी क्योंकि नायिकादि और चन्दनादिमें यद्यपि रसानुकूलता है परन्तु विकार नहीं है क्योंकि विकार अन्यथाभावका नाम कहते हैं । सो नायिका वा चन्दनादि अन्यथाभाव नहीं है । यह कहनेवाले अब परास्त होगये क्योंकि हम विकार अन्यथाभावको नहीं कहते हैं किन्तु ज्ञायमान होय सोही विकार है तो नायिकादि ज्ञायमान होकरिकै रसका अनुकूल होता है इससे भावलक्षणकी अव्याप्ति नहीं होगी । यहाँ यह शंका होती है कि ऐसा भावका लक्षण कहा तोभी आन्तर भावमें अव्याप्ति होगी । क्योंकि आन्तर भावोंको आपके स्वरूपहीसे रसानुकूलता है, ज्ञायमान हो करिके रसानुकूलता नहीं है । तो भावलक्षण वही नहीं रहा । इस शंकाका समाधान यह है कि ज्ञायमान शब्दमें ज्ञान जो वस्तु है सो अन्तःकरणवृत्ति और साक्षी दोनोंहीका व्रहण करता है । इस हेतु आन्तर भाव अन्तःकरणवृत्तिका विषय नहीं है, तोभी साक्षीका विषय होके रसानुकूल होता है इससे ऐसे भावलक्षणमें कोई दोष नहीं हुआ । यह मत समीचीन नहीं क्योंकि सब जगह भावपदका व्यवहार नहीं होता है । यदि होता तो आलम्बन विभाव उदीपन विभावको भाव बनानेके लिये विकारशब्दका अज्ञायमान ज्ञायमान होजाय यह अर्थ करनाभी बनसकता । सो आलम्बन विभावादिमें भावपद प्रयोग नहीं देखते हैं । फिर ऐसा अर्थ करनाठीक नहीं । फिर शंका होती है कि आलम्बन विभावादिमें भावपद प्रयोग नहीं होता है । यह कहना समीचीन नहीं क्योंकि ये विभाव हैं ये अनुभाव हैं इस प्रकारसे भावपदप्रयोग सबमें होरहा है, इस शंकाका समाधान यह है कि विभाव अनुभावमें जो भावपदकी प्रवृत्ति होती है सो विशेषकरिके जो

## विकारश्च द्विविधः । आन्तरः शारीरश्च । आन्तरोऽपि

भावित करै उसको विभाव कहना और अनुभवको जो करावै उसे अनुभाव कहना, यह जो दूसरी व्युत्पत्ति है इसका अंगीकार करिकै स्वीकार किया गया है । और प्रकृतमें जो भाव कहा है उसको मानकरिकै भावपद प्रयोग वहाँ नहीं है । यदि इसीको मानकरिकै भावपद प्रयोग करो तो जिस तरह व्यभिचारी भाव कहा जाताहै इसीतरह विभाव भाव है । अनुभाव भाव है, ऐसाभी प्रयोग होजायगा परन्तु ऐसा प्रयोग नहीं होताहै । इससे उक्त व्युत्पत्ति मान करिकै ही भावपदप्रवृत्ति कहना ठीक है । प्रकृतमें विवक्षित जो भावपद सो वहाँ नहीं है ऐसा हुआ तो विकार शब्दका ज्ञायमान अर्थ कहकरिकै आलम्बन विभावादिमें जो भावपद प्रयोग स्थापित किया वह असमीचीन ही है । फिर शंका होतीहै कि भाववस्तुका अनुगम तो रहा नहीं कहीं भावपदका अर्थ औरही हुआ कहीं औरही हुआ ऐसा हुआ तो सात्त्विक भावमेंभी उक्त भावलक्षण रहेगा नहीं । यहाँभी दूसरी उत्पत्ति करिकै भावपदप्रयोग करना चाहिये । ऐसा होगा तो सात्त्विकभी भाव नहीं कहावेंगे । इसका समाधान यह है कि भावलक्षणमें विकारपदसे प्राणिप्रयत्न विना जो होय और प्राणिके अश्रित सत्ता जिसकी होय उसको विकार कहते हैं, यहाँ प्राणिशब्दसे शरीरयुक्त आत्मा समझना और चेष्टाश्रय शरीर समझना और चेष्टामें जो चेष्टात्व धर्म है वह जातिविशेष समझना ऐसा विकारका अर्थ करनेसे भाव लक्षणमें अनुगम नहीं होगा यह बात ग्रन्थकारभी आगे स्फुट करेंगे । यह जो भावलक्षण है सो सात्त्विक भावमेंभी स्थायिभावादिके समान ही रहेगा इस हेतु व्युत्पत्त्यन्तरसे भावपद प्रयोग करना उचित नहीं । और ग्रन्थकारने “रसस्य हेतवो भावादयः” यहाँभी भावादि शब्दका प्रयोग किया है तो भावादिशब्दका जो अभ्यस्त पाठ किया इससे भाव और भावभिन्न जो रसका हेतु उसका मैं निरूपण करताहूँ ऐसा कहनेवाले जो ग्रन्थकार हैं उनको सर्वसाधारण भावपदप्रयोग इष्ट नहीं है विकारमात्र भाव कहैं तो ओलाका विकार जो जल वह भी भाव कहावैगा इससे रसानुकूल यह पद दिया, रसानुकूलमात्र कहैं तो विभावादिभी रसानुकूल होनेसे भाव होजायेंगे इसलिये विकारपद दिया । स्थायिभावों को रसान्तरमें व्यभिचारिता होनेसे रसानुकूलताहै ही इससे अव्याप्ति दोष नहीं होगा सो जानना ।

अब आन्तरभावाद्यन्यतमको लक्ष्यतावगतिसे प्राप्त हुई जो अन्यजातीय भावम अतिव्याप्तिशंका उसका अपाकरण करनेकी है इच्छा जिनको ऐसे जो ग्रन्थकार सो लक्ष्यताज्ञानोपयुक्त विभाग दिखातेहैं “विकारश्च” इत्यादि ग्रन्थसे ।

द्विविधः । स्थायिभावो व्यभिचारिभावश्चेति शारीरस्तु सात्त्विकभावादिः ॥ यत्तु मनोविकारो भावः ॥ तथा च देहविकारे स्वेदादौ भावपदप्रयोगो गौण इति ॥ तत्र तुल्यवदुभयत्र भावपदप्रयोगेण विनिगन्तुमशक्यत्वात् । लक्षणाऽनुरोधेन लक्ष्याऽव्यवस्थितेः ॥

किसी पुस्तकमें ‘सात्त्विकभावादयः’ ऐसा पाठ है तहाँ आदिपदका प्रयोजन यह है कि स्तम्भस्वेदादि जो आठ सात्त्विक भाव कहेहैं उनमें जृम्भाकी गणना नहीं की है । ता जृम्भाका सात्त्विकभावमें संग्रह होवो ऐसा हुआ तो स्थायिभाव, व्यभिचारिभाव, सात्त्विकभाव ये तीनों ही भाव लक्षणके लक्ष्य हैं और जातिके भाव अलक्ष्य ही हैं । तहाँ इस लक्षणकी सत्ता नहीं है इस हेतु अतिव्याप्त्यादि कोई दोषभी नहीं है । अब आन्तर भाव शारीर भाव दोनोंमें एक धर्मकी असंभावना करनेवाले मनोविकारमात्रको भावलक्षणका लक्ष्य कहनेवालोंके मतसे लक्षण “यत्तु” इत्यादि ग्रन्थसे कहतेहैं । इनके मतमें मनका जो विकार सो ही भाव है ऐसा लक्षण हुआ तो देहविकार जो सात्त्विक भाव उसमें इस लक्षणके नहीं रहनेसे वह अलक्ष्य है परन्तु सात्त्विक भावमें भी भावपद प्रयोग है ताके निर्वाहके लिये वहाँ भावशब्दका विकारमात्ररूप लाक्षणिक अर्थ करना । ऐसा अर्थ करनेसे सात्त्विकभावभी भाव कहा जायगा । प्रकृत जो भाव है सो वे नहीं हैं सो जानना । इसका खण्डन “तत्र” इत्यादि ग्रन्थसे करतेहैं । इसका यह अभिप्राय है कि तुल्यरूप करिकै आन्तर विकार और शारीर विकार दोनों ही में भावपदप्रयोग है इस हेतु विनिगमना करनेमें शंका नहीं है । एकतर पक्षपातिनी युक्तिको विनिगमना कहते हैं सो विनिगमना यदी नहीं प्राप्त होती है । कदाचित् यह कहो कि, हमारा जो लक्षण सो सात्त्विकभावमें अप्राप्त है इसलिये सात्त्विकभाव लक्ष्य नहीं है । यह कहना अनुचित है क्योंकि लक्षणके अनुरोधसे लक्ष्यकी व्यवस्था नहीं होतीहै किन्तु उभयत्र भावपदप्रयोग होनेसे दोनोंही भाव हैं । लक्ष्यतावच्छेदक भावपदवाच्यत्वही मानना होगा वह दोनोंमें ही है इस हेतु दोनोंही लक्ष्य हैं । इसलिये भावलक्षणमें जो विकारपद है इससे चित्तविकार कायविकार दोनोंका प्रागुक्त रीतिसे अनुगम कियाहै तो युक्तही है ॥ “सजातीयविजातीयेरतिरस्कृतमूर्तिमात् । बात्मभावं नयत्यन्यान्स्थायी तु लवणाकरः ॥” इस प्राचीन वाक्यमें एकैक भागमात्रके लक्षणत्व होनेसे तदितरभागको

## इतरभावस्यात्मभावत्वोपनायकत्वे सति सजातीयविजाती- यभावानभिभाव्यः प्रथमः । पराऽनभिभाव्यो मनोविकारो

वैयर्थ्यपत्तिदोष होता है । इसलिये यह प्राचीन वाक्य लक्षणद्वयतात्पर्यक है यह कहनेके लिये उस वाक्यका अनुवाद करतेहैं “इतरभावस्य” त्यादिवाक्यसे । यहाँ इतरपद-स्वरूपकीर्तनहै भावको इतनाही अर्थ विवक्षितहै । आत्मभावत्वोपनायकत्वका यह अर्थहै कि अपनी रवरूपताका प्रकाशकत्व ऐसा हुआ तो सत्यन्तका यह अर्थ हुआ कि भावको आत्मस्वरूपताका प्रकाशक होय उसको स्थायिभाव कहना, उत्तरपदका यह अर्थ है कि रतिका सजातीय जो रत्यादि और विजातीय जो निर्वेदादि ताकरिके अनभिभाव्य होय अर्थात् सजातीय विजातीय भावका जो असाधारण धर्म उस धर्मसे जो उसका ज्ञान उसकी प्रतिबन्धक जो सामग्री उस सामग्रीसे सम्पन्न है आस्वाद जिसका ऐसा स्थायिभाव है । विचार करो कि जहाँ काव्यप्रविष्ट तत्त्वदार्थ सहद्यहृदयप्रविष्ट होकरिकै सहद्यकी सहद्यतासहकारकरिकै तत्त्वदार्थका जो विभावन अनुभावनरूप व्यापार ताकरिकै वह पदार्थ अपने अपने असाधारण धर्म अर्थात् कारणत्व कार्यत्वादि धर्मका त्यागकरिकै प्रकांशित होतेहैं इस रीतिसे प्रकाश होनेहीसे शास्त्रीय विभाव अनुभाव व्यभिचारिभाव शब्दकरिकै वह पदार्थ कहेजातेहैं । पश्चात् वह आलम्बन कारण उहीपन कारण और कार्य और सहकारी ये तीनोंही मिलकरिकै रतिकी चर्वणा होतीहै तहाँ जिस प्रकार पानक रसमें भिन्नजातीय रस पृथक् पृथक् प्रतिभासित नहीं होतेहैं इसही प्रकार यहाँभी विभावादि रत्यादि विना प्रतिभासित नहीं होतेहैं किन्तु रत्यादिरूपकरिकै ही प्रतिभासित होते हैं । इस हेतु उक्त सामग्रीसम्पन्नचर्वणाक्स्थायिभाव होते हैं । इस स्थायिभावलक्षणवाक्यको लक्षणद्वयतात्पर्यकता होनेसे भी विशेष्यदलमें अर्थात् सजातीयविजातीयभावानभिभाव्यत्वदलमें साजात्यादिकी संघटना व्यर्थ है इसलिये उस भागको त्याग करिकै विशेष्यदलका परिष्कार-करतेहैं “पराऽनभिभाव्यो मनोविकारो वा इस्यन्यसे” इसका अर्थ पूर्व कहही चुकेहैं- ‘सजातीयविजातीयभावाऽनभिभाव्यः’ इसका अर्थ करनेसे सो जानना चाहिये । इस लक्षणका यदि स्थायिभावेतरभावानभिभाव्यत्व अर्थ करें तो स्थायिभावकेलक्षणमें स्थायिभावका प्रवेश होनेसे आत्माश्रय दोष होगा इसलिये स्वेतरानभिभाव्यत्व ऐसा अर्थ करें तो यहाँ स्वशब्दका प्रवेश होनेसे लक्षण अननुगत होजायगा इसलिये विशेष्यदलको छोड करिकै सत्यन्त दलका अर्थात् इतरभावस्यात्मभावत्वोपनायकत्वे

वा सकलप्रधानो विकारो वा स्थायिभावः ॥ न  
चान्यभावेऽतिव्याप्तिः । तस्येतरभावस्यात्मभावत्वोप-  
नायकत्वाभावात्

सति इस दलका परिष्कार करते हैं “सकलप्रधानः” इत्यादि वाक्यसे । इसका अर्थ यह है कि सकल मनोविकारमें जो प्रधानभूत है सो स्थायिभाव है स्थायिभावको प्रधानतावस्तु यह है कि स्वस्वरूपताकरिकै इतरभावका ज्ञापकत्व इसका अभिप्राय यह है कि इतरभावमें स्थायिभावका आरोप होता है इस आरोपमें इतरभाव तो विशेष्य होताहै स्थायिभाव विशेषण होता है । ऐसा हुआ तो इतरभावविशेष्यक आरोपप्रकारत्वही प्राधान्य समझना ऐसा हुआ तो सत्यन्त दलका यह अर्थ है कि इतरभावविशेष्यक आरोपप्रकार होत सन्ते विभाव अनुभाव व्यभिचारिभाव एतद्वयतमाभावसहित होकरिकै अन्यतमसम्पन्नचर्वणाक होय वह स्थायिभाव है । यह स्थायिभाव सामान्यलक्षण जानना । अब यहाँ सत्यन्तका प्रयोजन नचेत्यादिवाक्यसे दिखाते हैं । इस वाक्यका यह अर्थ है कि जो सत्यन्त नहीं ग्रहण करेंगे तो अन्य भाव अर्थात् सात्त्विकभावमें अतिव्याप्ति होजायगी क्योंकि सात्त्विकभावभी उक्तान्यतमाभावसहित होताहै और उक्तान्यतमसम्पन्नचर्वणाक होताहै क्योंकि स्थायिभावकी जैसे चर्वणा होतीहै तैसे ही सात्त्विकभावकी भी चर्वणा होतीहै इस हेतु तहाँ अतिव्याप्ति होगी इस हेतु सत्यन्त देना । सत्यन्त दियेसे अतिव्याप्ति नहीं होती है यह बात “तस्य” इत्यादि वाक्यसे कहतेहैं इस वाक्यका यह अर्थ है कि उस सात्त्विक भावको इतरभावको आत्मभावोपनायकता नहीं है इसका अभिप्राय यह है कि सात्त्विकभाववस्तुको आन्तरभावविशेष्यक आरोपप्रकारत्व नहीं है क्योंकि सात्त्विक भावका आरोप इतरभावमें नहीं होता है और स्थायिभावका सम्पूर्ण इतरभावमें आरोप होताहै इसलिये उक्त प्राधान्य स्थायिभावकोही है सात्त्विकभावको नहीं है । इसलिये अतिव्याप्ति नहीं हुई सो जानना । यहाँ विशेष करिकै प्रकारता विशेषताका उपादान नहीं करे किन्तु विषयतामात्रका उपादान करे तो व्यभिचारिभावमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि व्यभिचारिभावको भी आन्तर भाव अर्थात् स्थायिभावनिष्ठविषयतानिरूपितविषयताश्रयत्व है इसलिये ऐसा कहना चाहिये आन्तरभावनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्व ऐसा कहनेसे व्यभिचारिभावमें अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि, आन्तरभावनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्व व्यभिचारिभावमें नहीं है क्योंकि व्यभिचारिभावका कहीं आरोप होता तो यह दल वहाँ रहता सो आरोप नहीं होता है किन्तु स्थायिभावकाही आरोप होताहै इससे उक्त प्राधान्य व्यभिचारिभावमें भी नहीं है सो जानना । यहाँ विशेषदलका

## चरमसमयपर्यन्तस्थायित्वादस्य स्थायित्वव्यपदेशः ।

उपादान नहीं करें तो आन्तरभावमें जब घटका आरोप होगा तहां उक्त प्राधान्य घटमेंभी रहेगा इससे उक्तान्यतमसम्पन्नचर्वणाक यह विशेषण दिया । तब घटमें अतिव्याप्ति नहीं हुई क्योंकि घटकों उक्तान्यतमसम्पन्नचर्वणाकत्व नहीं है यही सहितान्तका अनुपादान करै तो रसमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि रसको भी अन्यतमसम्पन्नचर्वणाकत्व है इस हेतु सहितान्तविशेषण दिया तब रसमें अतिव्याप्ति नहीं हुई क्योंकि रस अन्यतमाभावसहित नहीं होता है चर्वणमें अन्यतमसम्पन्नत्वका अनुपादान करें तो घटमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि उक्त प्राधान्य घटमें है ही और घट अन्यतमाभावसहित भी है और घटकी चर्वणाभी होसकती है इस हेतु अन्यतमसम्पन्नत्व विशेषण दिया ऐसा हुआ तो घटके अन्यतमसम्पन्नचर्वणाकत्व नहीं है इससे अतिव्याप्ति नहीं होगी ऐसी व्यवस्था हुई । तो शेष भागको वैयर्थ्य होकरिके दो लक्षण स्थायिभावके हुए यह जानना ।

अब यहाँ यह शंका हुई कि मनोवृत्तिविशेषरूप स्थायिभावको शीघ्रतरविनाशित्व होनेसे स्थायित्व कैसे होगा । इसका समाधान “चरम” इत्यादिवाक्यसे कहतेहैं। वाक्यार्थ यह है कि स्थायिभावका जो सूक्ष्म अवस्थाकाल उसहीका नाम चरमसमय है । और स्थायिभावका नाशक्षण जो है सो चरमसमय नहीं समझना क्योंकि सत्कार्यवादीके मतमें सम्पूर्ण पदार्थ सत्तरूपही हैं उनके मतमें नाश कोई पदार्थका नहीं है ऐसा हुआ तो रत्यादिकभी सूक्ष्मरूप जो वासना तदृष्टतासे स्थित रहतेहैं इससे उनको स्थायित्वव्यवहार होताहै । इसमें प्राचीन वाक्यभी प्रमाण है कि “सजातीये-विजातीयेरतिरस्कृतमूर्तिमान् ॥ यावद्रसं वर्तमानः स्थायिभाव उदाहृतः” इसका अर्थ यह है कि सजातीय-विजातीय-भावकरिके अनभिभाव्यमूर्तिके वरससमयपर्यन्तवर्तमान ऐसे स्थायिभाव कहेजाते हैं । इन वाक्योंसे भी यही पर्यवसन्न होताहै कि रससमयपर्यन्त सूक्ष्मरूपकरिके स्थित होनेसे रत्यादि स्थायिभाव कहाते हैं यह व्याख्या प्राचीन मतकी है । नवीनमतसे तो चित्तवृत्तिविशेषरूप रत्यादि स्थायिका नाश होनेपरभी वासनापरपर्यायिक जो तज्जन्य संस्कार अथवा नहीं नाश होनेपरभी रत्यादिकी वासनारूपसे स्थिरता होनेसे जो स्थायित्वव्यपदेश किया सो स्थायित्वव्यभिचारिभावमें भी प्राप्त है । वहभी स्थायी कहावेंगे इस हेतु वासनारूप रत्यादिकी जो बारम्बार अभिव्यक्ति होना सो ही स्थिर पदार्थहै। व्यभिचारिभावकी रससमयमें बारम्बार अभिव्यक्ति नहीं होतीहै । व्यभिचारिभावकी अभिव्यक्तितो विद्युद्दिव्योत्प्रायहै । स्थायिभावकी तो रससमयमें अभिव्यक्ति होतीही रहतीहै इसलिये इनको

स चाष्ठा । तत्र भरतः-

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ॥

जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥ ६ ॥

तत्रेष्टवस्तुसमीहाजनिता मनोविकृतिरपरिपूर्णा रतिः । सा  
च क्वचिदर्शनेन, क्वचिच्छ्रवणेन, क्वचित्स्मरणेन । यथा-

स्थिरता हुई इस हेतु ये स्थायी कहते हैं कोई 'रत्याद्यन्यतमत्व' स्थायीका लक्षण करते हैं सो युक्त नहीं जानना क्योंकि करुणरसका काव्यमें रति व्यभिचारीभाव कहाजाता है । वहाँ भी रतिमें यह अन्यतमत्वरूप लक्षण प्राप्त होगा तो वहाँ भी रति स्थायिभाव कहाजायगा । इसका उदाहरण—“विच्छिन्नबाहुं पतितं पुरस्तादागत्य भूरिश्वरसं समीक्ष्य । प्रेम्णा समालिङ्गितबाहुखण्डं विमुक्तकण्ठं विलालाप बाला ॥” यही प्रेमशब्दमात्रकरिके प्राप्त जो रति सो करुणा रसका व्यभिचारी है सो जानना । और जहाँ प्रधानभूत करुणाकी पुष्टाके अर्थ रतिभी पुष्ट कीजाय तहाँ रसवदलङ्घारही है जिसप्रकार—“अयं स रसनोत्कर्षीः पीनस्तनविमर्दनः ॥ नाभ्यूहजघनस्पर्शी नीवीविश्वसनः करः ॥” यहाँ भुजखण्डावलोकनोदीपित प्रतीयमानरोदनाद्यनुभावित रतिरूप जो शृङ्खार सो करुणाके पोषणके अर्थ पुष्ट कियागया है इसलिये यह रति अलंकाररूप है और स्थायीरूप नहीं है ॥

अब स्थायिभावका विभाग “स च” इत्यादिवाक्यसे करते हैं । वाक्यार्थ यह है कि वह स्थायिभाव आठ प्रकारका है इस विभागमें भरतजीने भी अपना वाक्य प्रमाण दिखाया है । यद्यपि शान्त रसका स्थायिभाव जो निर्वेद है सो भी यहाँ ही परिगणनके योग्य है तथापि स्वतन्त्रेच्छ जो भरत मुनि उन्होंने व्यभिचारिभावमें ही निर्वेदकी गणना की और भक्त्यादि जो हैं सो भावही हैं रस नहीं हैं यह बात आगे कहेंगे । आठ प्रकारके स्थायिभावमें प्रथम कथित जो सति उसका लक्षण करते हैं “तत्र” इत्यादि वाक्यसे । इस वाक्यका यह अर्थ है कि उन स्थायिभावोंमें ऐसी मनोविकृतिको रति कहना कैसा, सो कहते हैं कि मनके अनुकूल जो वस्तु तद्रिप्यक जो इच्छा( वह इष्ट इमको होय इत्याकारक इच्छा ) तज्जनितप्रेमरूप करके सो नहीं पूर्ण हुई अर्थात् रसभावको अप्राप्त अभिप्राय यह है कि खीपुरुषमें परस्परालम्बन जो प्रेमाख्यचित्तवृत्तिविशेष सो रति है वहाँ सम्पूर्ण स्थायिभावके लक्षणमें अपुष्टार्थत्वविशेषण देदेना इससे रसमें अतिव्याप्ति दोष नहीं होता है सो जानना । वह रति कहीं दर्शनसे, कहीं श्रवणसे, कहीं स्मरणसे होती है ॥ रतिका उदाहरण

चक्षुर्यस्य कृषीवलो निगदितं पीयूषपाथोधरो  
 भ्रूसंज्ञा परिचारिका समजनि स्फीतं स्मितं दोहदम् ।  
 सन्तापं तरुणार्ककर्कशरुचिं निःश्वासवाताहर्ति  
 कस्मादेष सहिष्यते स च सखि प्रेमदुमः कोमलः ॥ ६ ॥  
 अत्र कोमलपदादपूर्णता ।

“चक्षुर्यस्य” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। नायिकासखीके प्रति नायिकासखीका यह वचन है। श्लोकार्थ यह है कि हे सखी ! वह जो ये अर्थात् अत्यन्त उपादेशताकरिकै अनुभवका विषय इसही हेतु कोमल अर्थात् संभाव्यमानबहुविश्वयुक्त प्रेमरूप वृक्ष सो मध्याद्वजृम्भमाणचण्डांशुवत् प्रचण्ड जो सन्ताप अर्थात् कामज्ज्वर उसको और निश्वासरूप पवनकी ताडनाको किसके बलसे सहनेमें समर्थ होगा । वह प्रेमदुम कौन, सो कहते हैं, जिस प्रेमदुमका नेत्र मनोरूप भूमिका आकर्षक होनेसे खेती करनेवालाहै । और वचन जो है सो अमृतका मेघ है । और भ्रूसंज्ञा कहिये भूविलास जो है सो परिचारिका अर्थात् खेती करनेवालेकी सेविका है । और स्फीत कहिये समृद्ध अर्थात् वृद्धिको प्राप्त जो स्त्री पुरुषका परस्पर स्मित अर्थात् मन्दहास वह दोहद अर्थात् गर्भ है । यह कहनेका यह अभिप्राय है कि विना समयभी स्वेच्छाविहाररूप फलसम्पादक होनेसे यह स्मित गर्भरूप है ॥ यहाँ कोई कहते हैं कि पुनरागमनमन्थर जो प्रिय उसके प्रति सखीके प्रेषण करनेकी कामनावाली जो नायिका उसका यह वचन है । स्थायिभावका उदाहरण यह नहीं बनसकता है । क्योंकि यही कस्मात् इस पदसे चिन्तारूप व्यभिचारिभाव प्रतीत होता है आर निश्वासरूप अनुभाव प्रतीत होता है । यह व्यभिचारिभाव अनुभावकरिकै युक्त नायिकागत विप्रलम्भ शृंगारही प्रतीत होता है । रतिरूप स्थायिभावमात्र यहाँ प्रतीत नहीं होता है। फिर यह उदाहरण स्थायिभावका कैसे होगा ? इस शङ्काका समाधान कोई इस तरह करते हैं कि “विभवानुभावव्यभिचारिभावोंके योगसे रसनिष्पत्ति होती है” एतदर्थप्रतिपादक भरतसूत्रमें भिलितको रसव्यञ्जकताका कथन है इसलिये यहाँ रसकी प्रतीति किस प्रकार होगी ? क्योंकि आलम्बनविभावरूपनायकका उपादान यही नहीं है । यह समाधान युक्त नहीं क्योंकि आलम्बनविभावका उपादान नहीं है तो भी चिन्तारूप व्यभिचारिभाव निःश्वासरूप अनुभाव इन दोनोंके बलसे नायकरूप आलम्बनविभावका आक्षेप होसकता है फिर रसका उदाहरण बनही जायगा फिर स्थायिभावका उदाहरण किस तरह कहा ? इसका समाधान कोई इस तरहभी करते हैं कि चिन्तारूप व्यभिचारिभाव निःश्वासरूप अनुभाव ये दोनों विप्रलम्भशृंगार और कहणा और भयानक तीनों रसोंमें

## कुतूहलकृतवचनवेष्वैसादृश्यकृतो मनोविकारः—

साधारण हैं । इसलिये एकतर आलम्बनके आक्षेपमें नियामक नहीं होसकेंगे इसहीसे यह स्थायिभावका उदाहरण होसकेगा यह भी युक्त नहीं । क्योंकि यहीं जिस प्रेमरूप वृक्षके नेत्र खेती करनेवालेहैं, इत्यादि वाक्यकारिके नायिका-कृतसादरावलोकनाकृष्ट मनःप्ररूढ़ प्रेमवृक्षादिज्ञानरूप सहकारीकरिके उक्त व्यभिचारिभाव अनुभाव बलकरिके नायकहीका आक्षेप होगा क्योंकि इस श्लोकमें हास्याभिव्यञ्जकजो स्मितहै उसकी करुणभयानकादिमें अत्यन्त प्रतिकूलताहै इसलिये यहीं रस का उदाहरण बन सकताहै स्थायिभावमात्रका नहीं बन सकता । यहाँ कदाचित् यह कहो कि आक्षेपसे रसकी प्रतीति नहीं होतीहै । तो यह कहना युक्त नहीं क्योंकि आक्षेपसे भी रसप्रतीतिका उपपादन आलंकारिकध्युरंधरभट्टाचार्यने किया है । काव्यप्रकाशके चतुर्योल्लासमें यह कहाहै कि “वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघम्” इत्यादि श्लोकमें आलम्बनोदीपनविभावमात्रका कथन है और “परिमृदितमृणाली” इत्यादि श्लोकमें अंगमालिन्याद्यनुभावमात्रका कथन है । और “दूरादुत्सुकमागते विगलितं संभाषिणि स्फारितम्” इत्यादि श्लोकमें उत्सुकादिविशेषणव्यंग्य औत्सुक्य, लज्जा, हर्ष, क्रोध, असूया, प्रसाद इन व्यभिचारिमात्रोंका कथन है फिरभी यही आक्षेपसे रसप्रतीति होतीहै । इन तीनोंही श्लोकोंकी व्याख्या “गूढार्थदीपिका” नाम काव्यप्रकाशकी व्याख्यामें करदी है यहाँ विस्तारभयसे नहीं लिखतेहैं । इसलिये उक्त प्रश्नका यह समाधान है कि प्रकृत श्लोकमें जो कोमल पद दियाहै सो कोमलपद रतिमात्रतात्पर्यका निर्णायक है । इसलिये यहाँ आक्षेप नहीं होताहै इसही अभिप्रायसे ग्रन्थकारने कहा है कि ‘कोमलपदादपूर्णाता’ अपूर्णता यहीहै कि विभावानुभाव व्यभिचारिभावान्यतमका यहाँ विरहहै सो जानना । अब यहाँ यह शंका होतीहै कि यह कोमल पद नहीं भी होय तोभी प्रेमको स्वशब्दोपात्तता होनेसे वमनार्थ दोष होनेसे रसत्वका अभाव होनेसे स्थायिभावका उदाहरण संगतही होगा । इस शंकाका यह समाधान है कि भरतसूत्रमें रसाभिव्यञ्जनमें तीनका ही उपादान है इसलिये वमनदोषकी रसताके विरोधमें प्रमाण नहीं है इससे यहाँ रस ही ही जायगा । इसलिये यह व्यवस्था करनी चाहिये कि जहाँ अन्यतरके अनुपादानमें भी अन्यतराक्षेपका प्रतिवन्धक कथित होय वही स्थायिभावका उदाहरण होताहै । ऐसा हुआ तो प्रकृत श्लोकमें अन्यतराक्षेपका बाधक कोमल पदहै इससे यह स्थायिभावकाही उदाहरण है । रसका नहीं सो जानना ।

अब हासरूपस्थायिभावका लक्षणभरतजीकहतेहैं “कुतूहलकृत” इत्यादि सत्रसे सूत्रका

परिमितो हासः॥ वचनभेदवेष भेदकृते भयकोधे नातिव्याप्तिः॥  
 तत्र कुतूहलकृतत्वाभावात् । यथा—तातचरणानाम् ॥  
 आगच्छब्दगरोपकण्ठमिलितैरावेष्टितो बालकैः  
 शुद्धान्ते परिचारिकाभिरचिरं सोल्लासमावेदितः ॥

अर्थ यह ह कि कुतूहलोदेश्यक जो वचन वा वेषकी विसद्वशता अर्थात् वैचित्र्य तज्जन्य जो अपरिपूर्ण मनोविकार सो हास है इस लक्षणमें कुतूहलकृत पद नहीं देवै तो अतिव्याप्तिरूप दोष होता है सो दिखाते हैं “वचनभेद” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि वचनके वैचित्र्यसे और वेषके वैचित्र्यसे जनित जो भय और क्रोध वहभी वचन वेष वैसाहश्यकृत मनोविकारहै तो वहभी हास कहाँगएगा । इस हेतु ‘कुतूहलकृत’ यह विशेषण दिया । यह विशेषण वचन वेषवैसाहश्यका है ऐसा हुआ तो जहां भय वा क्रोधके अर्थ वचनभेद वा वेषभेद होता है सो कुतूहलोदेश्यक नहीं होता है इस हेतु वहां अतिव्याप्ति दोष नहीं हुआ यहही बात “तत्र” इत्यादि वाक्यसे कहाँहै सो जानना । अब यहां यह शंका होती है कि कुतूहलोदेश्यक भी जो वचन वैसाहश्य उससे कदाचित् भय क्रोधका सम्भव होता है तो फिर भी भयक्रोधमें अतिव्याप्ति दोष रहे हीगा इस अतिव्याप्तिके वारणार्थ जो तुम ऐसा लक्षण कहोगे कि कुतूहलोदेश्यक जो कुतूहलफलोपहित वचन वेषवैसाहश्य, तज्जन्य जो मनोविकार सो हास है ऐसी विक्षा करनेसे भयक्रोधमें अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि भयक्रोधजनक जो वचन वेषवैसाहश्य है सो कुतूहलफलोपहित नहीं है क्योंकि जिस वचनवेष-वैसाहश्यका उत्तरकालमे कुतूहल सम्पन्न होय वह वचन वेषवैसाहश्य कुतूहलफलोपहितक होता है, ऐसा हुआ तो भयक्रोधका सम्पादक जो वचन वेष वैसाहश्य सो कुतूहलफलोपहित नहीं हुआ इस हेतु भयक्रोधमें अतिव्याप्ति नहीं होगी परन्तु वह विशेषण देनेसे वा नहीं देनेसे दोनोंही पक्षमें होसके लक्षणमें कुतूहलपदार्थका जो प्रवेश है सो कुतूहलपदका अर्थ हासहीहै । तो हासके लक्षणमें हासका प्रवेश होनेसे आत्माश्रय दोष होता है इस हेतु निर्दोष लक्षण करना चाहिये । इसका समाधान यह है कि विकासरूप जो चित्तवृत्ति विशेष उसहीमें कुतूहलकृत इस विशेषणका अभिप्राय है इसलिये वचन विकार दर्शनजन्मा जो विकास सो हासहै यह अर्थ फलित हुआ यहां आत्माश्रय दोष नहीं है और अतिव्याप्ति दोषभी नहीं है सो जानना अब हासस्थायिभावका उदाहरण “आगच्छन्”, इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । यहां यह शंका होतीहै कि यहां ‘तातचरणानाम्’ यह पद देनेका क्या तात्पर्य है इसका समाधान कोई यह कहतेहैं कि अपने पिताका

साकृतं सकुतूहलं बलिवधूवृन्दे पुरो दापय-  
त्यन्नं किञ्चिदुदञ्चितस्मितलवः पायात्स वो वामनः ॥ ७ ॥  
लवपदादपूर्णता ।

इष्टविश्लेषजनितो रत्यनालिंगितः परिमितो मनोविकारः-

पाणिडत्यख्यापनार्थ 'तातचरणानाम्' यह पद दिया, यह कथन समीचीन नहीं । क्षोक रचना करनेहीसे पाणिडत्य नहीं होता है, बहुत ईषद्विद्याभी क्षोक बनाते हैं किन्तु इसका समाधान यह है कि अन्यकृत क्षोकका उदाहरणोपन्यास करनेसे 'अस्मत्पदेन' इत्यादि जो ग्रन्थशेषमें क्षोक है उससे विरोध हो जायगा, उस विरोधाभावका उपपादन 'तातचरणानाम्' इससे किया । अभिप्राय यह है कि हमारे पिताका है तो हमाराही है ।

क्षोकार्थ यह है कि राजाके प्रति कवि आशीर्वाद देता है कि, वह जो वामन सो आपकी रक्षा करो, कैसा है वह वामन, नगरके समीपमें मिलेहुए अर्थात् प्राप्त हुए जो समुद्रित बालक तिनसे कौतुक देखनेकी इच्छासे वेष्टित ऐसा आगमन करता हुआ उसही समय अर्थात् देखनेके कालमें ही दासियोंने अन्तःपुरमें बलि-वधूवृन्दमें हर्षके साथ जैसे होय तैसे आवेदित अर्थात् निवेदन कियागया । फिर कैसा है वामन, बलिवधूवृन्द जो है सो साकृत अर्थात् वामनका जो वृत्तान्त परीक्षा उस परीक्षागम्भ जैसे होय तैसे और सकुतूहल अर्थात् वामनाकार समवलोकन-जनित कौतुकपूर्वक जैसे होय तैसे दासियोंसे अन्न दिवावती है ऐसे होत सन्ते 'किञ्चिदुदञ्चितस्मितलवः' अर्थात् वामनने यह विचार किया कि तीनोंलोकोंकी भिक्षा ग्रहणार्थ यह रूप धारण करनेवाला जो मैं हूँ उसकूँ चेटीकेद्वारा परिमित अन्न देती है यह विचार करिकै थोड़ा उल्लिखित जो हासका अनुभावभूत किञ्चित् आस्यस्पन्द सो है जिसकूँ ऐसा । यहां यद्यपि वामनदर्शनजन्य अन्नदानाद्यनुभावयुक्त जो बलिव-धूवृन्दनि उ हास सो परिपूर्ण देखते हैं और सुनो कि वामनमुखविकासकरिके आक्षिप्त जो विभावादि उससे वामननिष्ठ जो हास है सोभी परिपूर्ण है यह कहसकते हैं तथापि लवपदप्रकाशित जो अपरिपूर्णता सोही पूर्वोक्त युक्तिसे वामनगत हासमें विश्रामको प्राप्त होती है इस हेतु उदाहरण यहां बन जायगा यही बात 'लवपदात्' इत्यादि वाक्यसे कहते हैं ।

अब शोकरूप स्थायिभावकालक्षण 'इष्टविश्लेषजनितः' इत्यादिवाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि इष्टजनके वियोगसे उत्पन्न रतिसे अयुक्त ऐसा जो अपरिपूर्ण मनोविकार वह शोक है । यहां इष्ट शब्दार्थ इच्छाविशिष्ट नहीं समझना, इच्छोपलक्षित समझना, यह कहनेसे मृतव्यक्ति इच्छाभावका प्रतिपादक 'तत्र तत्र

शोकः ॥ न चेष्टविश्लेषजनितविप्रलभ्मशृङ्गारस्य करुण-  
रसत्वापत्तिः ॥ तस्य रत्यालिङ्गितत्वात् ॥  
न च रतिः प्रीतिः तया विना शोकोपि नोत्पद्यते इति तथा-  
चासम्भव इति वाच्यम्, इष्टसमीहाजनितमनोविकृतेरेव  
इतेरुक्तत्वात्। कुमारसम्भवे रत्याः, कादम्बर्यां महाश्वेतायाः,  
इशुकाव्येऽजस्य,—प्रलापे करुण एव रसः ॥

वाधनिश्चयात्' इत्यादि ग्रन्थभी संगत होता है यह वार्ता आगे वहाँके व्याख्यानमें  
स्फुट होजायगी। अब रत्यनालिंगित यह जो विशेषण दिया इसका प्रयोजन शंका-  
समाधानपूर्वक कहते हैं “न च” इत्यादि ग्रन्थसे। इसका अभिप्राय यह है कि इष्ट वियो-  
गसे उत्पन्न जो विप्रलभ्म शृङ्गार उसमें शोकलक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि  
इस स्थलमें जो मनोविकार है सो रतिसे युक्त है और शोकलक्षणमें रत्यनालिंगित  
पद है तो विप्रलभ्म शृङ्गारको रत्यनालिंगितत्व नहीं है।

अब यहाँ यह शंका होतीहै कि रति नाम प्रीतिका है उसका प्रयोज्य  
जो नहीं होय सो रत्यनालिंगित कहाताहै ऐसा हुआ तो शोक भी प्रीति विना  
नहीं होताहै तो शोकको भी रत्यालिंगितत्व होनेसे रत्यनालिंगितत्व विशेषण  
नहीं रहेगा तो असम्भव दोष इस लक्षणमें होगा यही बात ‘न च’ इत्यादि ग्रन्थसे  
कही है। इसका समाधान “इष्टसमीहा” इत्यादि ग्रन्थसे करते हैं। इसका  
अभिप्राय यह है कि शोकलक्षणमें जो रतिपद है सो इष्ट वस्तु समी-  
हाजनितमनोविकृतिरूप है ऐसी जो रति है उससे युक्तत्व शोकरूप मनोविकृतिको  
नहीं है क्योंकि शोकस्थलमें इष्ट वस्तुकी इच्छा नहीं होतीहै इस हेतु शोकको  
रत्यनालिंगितत्व है तो असम्भव दोष नहीं होगा इसी हेतुसे जहाँ मृत पुरुषमें जीवि-  
ताशाहे तहाँ रति तो प्रधान है शोक अप्रधान है इस हेतु शोकमें रत्यनालिंगितत्व  
नहीं है इस हेतु वहाँ विप्रलभ्म शृङ्गारहै। और जहाँ जीवत्में भी मृतत्वनिश्चय है तहाँ  
शोकरूप विकार पूर्वोक्तरतिसे अनालिंगित है इसहेतु वहाँ करुणकाभी निर्वाह होजा-  
यगा। प्रथमस्थलमें जो विप्रलभ्म शृङ्गार कहा उसमें यह अभिप्राय है कि जिस  
वस्तुमें भावी इष्टसाधनताबुद्धि होतीहै उस वस्तुकी इच्छा होतीहै ऐसा हुआ तो  
विप्रलभ्मशृङ्गारस्थलमें इष्टवस्तुसमीहा है और जहाँ करुणरस कहाहै वहाँ मृतत्वनिश्चय  
है तो मृतमें भावी इष्टसाधनताबुद्धि नहीं होतीहै किर वहाँ इच्छा किस हेतुसे होगी?  
फिर तज्जन्यमनोविकृति कहाँसे होगी? फिर शोकरूप विकारको उक्त रत्यालिङ्गितत्व

तत्रतत्र बाधनिश्चयादिष्टवस्तुसमीहाया अभावात् । यत्र च  
मृते जीविताशा तत्र शृङ्गार एव रसः, बाधसंदेहस्य ग्राह्यसं-  
देहपर्यवसिततया समीहाया अप्रतिबंधकत्वात् ॥

नहीं होगा, इससे वहाँ करुण रस होगा इसी हेतु कुमारसम्भव ग्रन्थमें गतिका और कादम्बरी ग्रन्थमें महाश्वेताका और रघुवंशमें अजका जो प्रलाप है उसमें करुणही रस है । महाश्वेताका वृत्तान्त कादम्बरीग्रन्थमें देखलेना इसही अभिप्रायको “तत्रतत्र” इत्यादिग्रन्थसे कहते हैं । इस ग्रन्थका यह अर्थ है कि कुमारसम्भवादि ग्रन्थमें रत्यादिके वृत्तान्तमें जीवनाभाव निश्चय होनेसे इष्ट वस्तु समीहा वहाँ नहीं रहती है और जहाँ मृतपुरुषमें जीविताशा अर्थात् जीवनसन्देह है तबहाँ तो शृंगारही रस है । यहाँ यह शंका होती है कि एक व्यक्तिमें जीवन और जीवनाभाव दोनोंका जो जानना वही जीवनसन्देह है तबहाँ एक भागमें मरणभी प्राप्त हुआ, ऐसा हुआ तो वह पुरुष मृतत्वसे भी अवगत हुआ तो भावि इष्टसाधनताभावज्ञान वहाँ हुआ उस ज्ञान होनेसे भावि इष्टसाधनताज्ञानाधीन जो इच्छा तज्जन्यमनोविकृतिरूप गति वहाँ कैसे होगी । ऐसा हुआ तो जीवनसन्देहमें शृङ्गार कैसे कहा ? इसका समाधान “बाध-सन्देहस्य” इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । इस वाक्यका यह अर्थ है कि जहाँ जीवनसन्देहदशा है तबहाँ भाविष्टसाधनताभावनिश्चय नहीं ही होसकता है । इष्टसाधनत्वाभावका सन्देह होसकता है सो ही सन्देह बाधसन्देह कहाता है सो एक भागमें इष्टसाधनता सन्देहरूप है तो वह बाधसन्देह सङ्ग्राह्य जो इष्टसाधनता वस्तु उसका सन्देहरूप होनेसे समीहा कहिये इच्छाका प्रतिबन्धक नहीं होसकता है । जो इष्टसाधनतासन्देह भी इच्छाका प्रतिबन्धक होय तो युद्धमें पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये वहाँ पुरुषकी इष्टसाधनताका सन्देह है तो वहाँ इच्छा नहीं होसकैगी तो प्रवृत्ति कैसे होगी ? इस हेतु इष्ट साधनतासन्देह इच्छाका प्रतिबन्धक नहीं है यही मानना चाहिये । और दावानलमें इष्टसाधनत्वाभावनिश्चय होनेसे बाधनिश्चय रहगया इस हेतु वहाँ इच्छा नहीं होती है, इस हेतु प्रवृत्तिभी नहीं होती है ऐसा हुआ तो प्रकृतस्थलमें बाधनिश्चय नहीं है किन्तु सन्देह है वह सन्देह समीहाका प्रतिबन्धक नहीं है इस हेतु समीहा होयहीगी तो शृंगार रस होनेमें कोई प्रतिबन्धक नहीं है सो जानना । कोई यह कहते हैं कि जिस प्रकार मृतत्व करिकै निश्चय रहनेसे ही करुण होता है तैसे ही जीवितत्व करिकै निश्चय रहनेसे ही विप्रलम्भ होता है । ऐसा नहीं मानो तो जहाँ मृतत्व करिकै सन्देह है और जीवितत्व करिकै सन्देह है तबहाँ करुणरसका अवान्तर भेद क्यों नहीं स्वीकार करते हो ? जो

१ उन उन पुरुषोंमें भाव इष्टसाधनताभावबुद्धि होनेसे तत्त्वपुरुषविषयक इच्छा नहीं होगी ।

तथा च यूनोरेकतरस्मिन् मृते प्रलापः करुणरसः, जीव-  
तोर्विश्लिष्टयोः प्रलापः शृंगारः । अत एव रसरत्नदीपि-  
कायां करुणरसोदाहरणम्—

अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः ।  
दृष्टे पुरुषाकृतिः क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥ ८ ॥

स्वीकार करोगे तो ऐसे सन्देहस्थलमें जिस रीतिसे मरणज्ञान होनेसे करुणका भेद  
मानेंगे तैसेही जीवनकाभी तो सन्देह यहां है तो जीवनज्ञान रह जायगा तो शृंगार  
भी क्यों नहीं मानोगे ? एक माननेमें कोई विनिगमक नहीं इस हेतु ऐसे सन्देहस्थलमें  
करुणविप्रलम्भार्थ्य रसान्तरही मानना चाहिये, यह जो मत है सो समीचीन नहीं  
क्योंकि शृंगारका स्थायी जो रति उसको वियोगकालीन होनेसे विप्रलम्भशृंगार  
तो मानना ही होगा और करुणका स्थायी तो रत्यालिंगित शोक है सो यहां  
रत्यालिंगितत्व होनेसे नहीं बन सकताहै । इस हेतु ऐसे स्थलमें रसान्तर मानना  
युक्त नहीं यह बात विद्वज्ञन सूक्ष्मदृष्टिसे विचार लेवै । यह ही बात “तथा च”  
इत्यादि ग्रन्थसे स्पष्ट करतेहैं । इस ग्रन्थका यह अभिप्राय है कि युवति युवा इन  
दोनोंमें एक जब मृत होय तब जो प्रलाप करना है सो तो करुणरस है और  
विश्लेषयुक्त दोनोंमें जहां जीवितत्व सन्देह है तहां जो प्रलाप वह विप्रलम्भ  
शृंगार है यावत् जीवनसन्देह है तावत् करुणका प्रसरण नहीं है इसमें  
प्राचीनकी भी सम्मति दिखातेहैं “अंत एव” इत्यादि वाक्यसे । इस वाक्यका  
यह अर्थ है कि जीवनसन्देहका भी अभाव रहनेसे ही “रसरत्नदीपिका” ग्रन्थमें  
करुणरसका उदाहरण “अयि जीवित” इत्यादि श्लोक कहाहै । श्लोकार्थ यह है  
कि हे जीवितनाथ ! जीतेभी हो ( यहां अयि यह जो पद है सो दीनताको अभिव्य-  
ञ्जित करताहुआ शोकको पुष्ट करताहै ) यह कह करिकै उठी हुई जो रति उसने  
फिरभी पृथिवीमें पुरुषाकृति अर्थात् हस्तपादादिविवेकपूर्वक हरकोपानलजन्य  
भस्ममात्र देखा अर्थात् जीवनज्ञानभी नहीं रही । इस श्लोकमें उत्तरार्द्धसे जीवना-  
ज्ञानका अभावज्ञान कराया इस हेतु यह विचार करना चाहिये कि जो जीवन-  
सन्देहमें भी करुणरस होता तो पूर्वार्द्धसे भी जीवनसन्देह सिद्धही था फिर जीवन-  
सन्देहाभावज्ञान करानेके अर्थ उत्तरार्द्धप्रणयन क्यों किया, वह व्यर्थ होजायगा  
इस हेतु रसरत्नदीपिकाकारको भी जीवनसन्देहमें करुणरसका स्वीकार नहीं  
है किन्तु सन्देहकाभी अभाव होनेसे स्वीकार है । ऐसा हुआ तो विप्रलम्भशृंगारमें  
जो करुणाव्यवहार होताहै सो अंगभूत विच्चवैकुण्ठव्यकृतही जानना ॥

ननु विप्रलम्भस्य पूर्वानुरागमानप्रवासकरुणात्मकत्वाज्ञीव-  
तोरपि विप्रलम्भस्य करुणरसत्वमायातमिति चेत् । सत्यम्,  
तत्र करुणारसस्याङ्गत्वेन भासमानत्वात्तत्र करुणात्म-  
कव्यपदेशः ॥ यथा--

अब यहाँ यह शंका होती है कि जीवनसन्देहस्थलमें तुलयुक्तिसे रातिपुष्ट वैकृव्यको भी कहसकते हैं । इस हेतु जहाँ जीवनसन्देह है तहाँ शृंगारही है ऐसा अवधारण नहीं करसकते हैं क्योंकि जहाँ रति प्रधान है और अंगवैकृव्य है तहाँ तो शृंगार होगा । परंतु जहाँ रति अंग है और चित्तवैकृव्य प्रधान है तहाँ तो करुणही कहना होगा । इसका यह समाधान है कि रति और शोक दोनों जहाँ प्राप्त होय तहाँ गतिही प्रधान होय शोक प्रधान नहीं होय । इसमें वस्तुस्वभाव जो है सो ही प्रमाण है ऐसा हुआ तो दोनोंके सद्ग्रावमें रतिकी प्रधानता होनेसे विप्रलम्भ शृंगारही होगा करुण नहीं ही होगा । और जो विप्रलम्भशृंगारमें करुणव्यवहार होताहै सो पूर्वोक्त युक्तिसेही होताहै सो जानना चाहिये । ( यदि पूर्वोक्त रीतिसे गुण-प्रधान नियम नहीं मानो तो चित्तवैकृव्यसे पुष्ट जो रति उसको तो विप्रलम्भ समझो और रति करिके पुष्ट जो चित्तवैकृव्य उसको करुण समझो यही व्यवस्था सुस्थ होजायगी ) यह कहनेके अर्थ “ननु” इत्यादि ग्रन्थका आरम्भ करते हैं । इसका यह अभिप्राय है कि पूर्वानुराग और मान और प्रवास और करुण चार प्रकारसे विप्रलम्भका वर्णन है इस हेतु जीते हुए जो खी पुरुष उनको विप्रलम्भ शृंगारको करुणरसत्व आया । यहाँ पूर्वानुराग उसे कहते हैं कि संगम तो भया होय नहीं और स्नेह उत्पन्न होगया इसीको अभिलाष्टहेतुकभी कहते हैं । और मान उसको कहते हैं कि ईर्ष्यासे अथवा स्नेहसे जो कोप होय उसको ईर्ष्याहेतुकभी कहते हैं यह संगमोत्तर जानना । प्रवास उसको कहते हैं कि प्रवासज्ञान होकरिके जो शृंगार होय यह प्रवासज्ञानहेतुक है इसीको प्रवासहेतुकभी कहते हैं । और करुणारूप शृंगार उसको कहते हैं कि जिस तरह ईर्ष्या और प्रवास एतद्वेतुक और संगमपूर्वक जो विप्रलम्भ है इसके जो कारण होते हैं अर्थात् ईर्ष्या प्रवास इससे अतिरिक्त जो हेतु गुर्वादिलज्जा उससे उत्पन्न जो संगमपूर्वक विप्रलम्भ सो विरहेतुक कहाता है । तिसही तरहसे उन दो प्रकारका जो विप्रलम्भशृंगार उसका कारण जो ईर्ष्या प्रवास उससे अतिरिक्त जो बलवत्तर कारण उससे उत्पन्न जो संगमपूर्वक विप्रलम्भ उसको करुणशृंगार कहते हैं, ऐसा हुआ तो विप्रलम्भको भी करुणरसत्व आगया, यह जो शंका ‘ननु’ इत्यादि ग्रन्थसे की उसका “तत्र” इत्यादि

विरहज्वरमूर्च्छया पतन्तीनयनेनाश्रुजलेन सिन्ध्यमानाम् ॥  
समवेक्ष्य रतिं विनिःश्वसन्तीं करुणा कुञ्जलिना बभूव शम्भोः ॥  
कुञ्जलितेत्यपूर्णता ।

अवज्ञादिकृतः प्रमोदप्रतिकूलः परिमितो मनोविकारः  
क्रोधः ॥ प्रमोदप्रतिकूलेतिविशेषणादशमुखदुर्वचनावमा-  
नितस्य रामस्य वीररसे नातिव्याप्तिः ॥

बाक्यसे पूर्वोक्तही समाधान करते हैं । इसका यह अर्थ है कि विप्रलम्भ शृंगारमें  
करुणरसको अंगताकरिके माना है, इस हेतु वहां करुणपर व्यवहार है, वास्तविकमें वह  
शृंगारही है ॥ अब शोकका उदाहरण “विरह” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं ।  
श्लोकार्थ यह है कि वियोगसमूत सन्तापातिशयप्रयुक्त चित्तवैकल्यसे लोटी  
हुई और नयन अश्रुजलसे सींचीहुई ऐसी और निश्वास लेती हुई जो रति उसको  
देखकरिके महादेवजीकी करुणा सञ्चातकुञ्जला होती हुई । यहां यद्यपि विद्व-  
स्तकामसे उत्पन्न अश्रुपात और गात्रविक्षेपादिसे अनुभाव्य जो रतिमनोवैकल्य सो  
परिपूर्ण है तथापि विद्वस्तकामप्रियाविभावित जो शिवचित्तवैकल्य सो अप-  
रिपूर्णही तात्पर्यताविषय है इस बातका समझना कुञ्जलित पदसे ही है । यहां  
बात ‘कुञ्जलितेत्यपूर्णता’ इस बाक्यसे कही है । उक्त युक्तिसे अपूर्णताही सब  
जगह है । और कोई जगहभी आक्षेपसे पूर्णता है यह नहीं जानना । यही अपूर्णता  
इस पदका अभिपाय है ॥

अब क्रोधरूप स्थायिभावका लक्षण कहते हैं । “अवज्ञादिऽ” इत्यादिग्रन्थसे ।  
इसका यह अर्थ है कि अवज्ञा आदिसे उत्पन्न और प्रमोदका प्रतिकूल  
ऐसा जो मनोविकार अर्थात् चित्तका प्रज्वलन अपरिपूर्ण उसको क्रोध कहते हैं ।  
यहाँ प्रमोदप्रतिकूल इस विशेषणका फल “प्रमोदप्रतिकूल” इत्यादि बाक्यसे  
कहते हैं । बाक्यार्थ यह है कि रावणकृतदुर्वचनसे अपमानयुक्त रामके वीररस  
स्थायिभाव उत्साहमें भी अवज्ञादिकृतत्व है । तो अतिव्याप्ति होगी इस हेतु प्रमो-  
दप्रतिकूल यह विशेषण दिया तो वीर रसका व्यभिचारिभाव जो क्रोध उसको  
विवेकरूप प्रमोद प्रतिकूल है तो भी क्रोधव्यभिचारिभावक वीररसस्थायिभाव जो  
उत्साह तामें प्रमोदप्रतिकूल्य नहीं है, इस हेतु वहां अतिव्याप्ति नहीं होगी यह  
बात युद्धवीरोत्साहोदाहरणावसरमें व्यक्त होगी । अब क्रोधरूप स्थायिभावका

यथा परशुरामवाक्यम्—

नाद्यारभ्य करोमि कार्मुकलताविन्यस्तहस्ताम्बुजः ॥५४॥

किञ्चित्पाटलभासि लोचनयुगे तावन्निमेषोदयान् ॥५५॥  
यावत्सायककोटिपाटितरिपुक्षमापः लमौलिस्खलन्—  
परिभिर्नाम

मल्लीमाल्यपत्त्परागपटलैर्नमोदिनी मेदिनी ॥ ५० ॥  
किञ्चित्पाटलत्वादपूर्णता ॥ शौर्यदानदयान्यतमकृतः परि-  
मितो मनोविकार उत्साहः ॥ वीरस्तु युद्धवीर-दानवीर-द-  
यावीरभेदात् त्रिधा । युद्धवीरस्योत्साहो यथा—

सेनां संघटयन्द्युतिं द्विगुणयं श्वापं चमत्कारयन्

नेत्रस्याभिमुखो भविष्यति जगद्विद्रावणो रावणः ।

उदाहरण “नाद्यारभ्य” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि परशुरामजी कहते हैं कि आजके दिन अर्थात् सहस्रार्जुनापराधादिनको आरम्भ करिकै अर्थात् अवधि करिकै कार्मुकलता अर्थात् चापमें दिया ह अम्बुजसदृश हस्तको जिसने ऐसा जो मैं सो किञ्चित्पाटलभासि अर्थात् खेतरक्तकान्तियुक्त लोचनयुगमें तबतक निमेषोदय अर्थात् पक्षमाकुंचनारम्भको नहीं करूँगा। कबतक, इस अपेक्षासे कहते हैं कि जबतक मेदिनी अर्थात् पृथिवी बाणाग्रविदारित शत्रुभूत पृथ्वीपतियोंके शिरसे बिखरी हुई जो मालतीमाला उससे च्युत जो पुष्परेणुसमूह उससे आमोदिनी अर्थात् गन्धवती नहीं होवे। यहांभी गुरुजनापराधादिविभावित विशिष्टप्रतिज्ञानुभावित क्रोध यद्यपि परिपूर्णही है तथाऽपि किञ्चित्पद क्रोधहीमं तात्पर्यका सूचक है। और प्रतिनायकादिको आक्षेप करिकै पूर्ण क्रोधमें भी तात्पर्यको सूचित नहीं करता है। यही बात किंचित् इस पदसे कहते हैं ॥

अब उत्साह लक्षण “शौर्य” इत्यादि वाक्यसे कहते हैं। वाक्यार्थ यह है कि शूरता और दान और दया एतदन्यतमकृत जो परिमित मनोविकार सो उत्साह है ॥ यहां एकमात्रका उपादान करें तो दूसरे उत्साहमें अव्यासि होगी। एतदन्यतमसे कृत अर्थात् अनुभावित जो औद्धत्याख्य मनोविकार वह उत्साह है सो जानना। कार्यवैचित्रपदहीसे कारणवैचित्र्य जानाजाता है यह बात “वीरस्तु” इत्यादि वाक्यसे कहते हैं अर्थात् वीर युद्धवीर, दानवीर, दयावीर इनभेदोंसे तीन प्रकार हैं। अब युद्धवीरके उत्साहका उदाहरण “सेनाम्” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि सेनाको इकट्ठा करता

इत्युत्साहविचारमूढहृदयो देवो रघूणां पति-  
ज्याविन्यासविधिं विनैव विशिखं बाणासने न्यस्तवान् ॥ ११ ॥  
अत्र विचारादपूर्णता ।  
दानवीरस्योत्साहो यथा -

आदर्शाय शशांकमण्डलमिदं हर्म्याय हेमाचलं  
दीपाय द्युमणिं महीमिव कथं नो भिक्षवे दत्तवान् ।  
दित्सापल्लवितप्रमोदसलिलव्याकीर्णनेत्राम्बुजो  
जानीमो भृगुनन्दनस्तदखिलं न प्रायशो हृष्टवान् ॥ १२ ॥

हुआ कान्तिको द्विगुण वर्धन करता हुआ धनुषको चमत्कार करता हुआ अर्थात् ज्याको संयोजित करिके कानपर्यन्त खैचता हुआ जगत्का विद्रावण अर्थात् दुःखदेनेवाला ऐसा रावण जो है सो हमारे नेत्रके सम्मुख होयहीगा । इस प्रकार का जो युद्धोत्साह उस करिके जो विचार अर्थात् मनोघटना उस करिके मूढहृदय अर्थात् व्यग्रहृदय अर्थात् वार्तानुसन्धानरहित जो रामचन्द्र उनने प्रत्यञ्चाकी रचनाविधि विनाही अर्थात् धनुषका ज्याके साथ संयोग विनाही वाणको धनुषमें संयोजित करदिया । यहां उत्साहका जो अनुभाव उसकी अनुपादानतासे उत्साहकी अपूर्णता जाननी । आक्षेपभी विचारपदसे नहीं बनसकताहै इस हेतु 'विचारपदादपूर्णता' यह ग्रन्थ संगत होगया ॥ अब दानवीरके उत्साहका उदाहरण "आदर्शाय" इत्यादिक्षोक्तसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि कोई कहताहै कि भृगुनन्दन जो हैं सो काचके अर्थ अर्थात् मुखावलोकनार्थ जो दर्पण ताके अर्थ इस चन्द्रमण्डलको भिक्षुकको नहीं देताभया और घरके बास्ते हिमाचलको नहीं देताभया और दीपके बास्ते सूर्यको नहीं देताभया तो जिस तरह पृथिवी दी इस तरह ये सब क्यों नहीं दिये ? इससे जानतेहैं कि उन सबको प्रायः वह नहीं देखताभया । नहीं देखनेमें हेतुगर्भ विशेषण कहतेहैं कि कैसाहै भगुनन्दन कि, दनका जो इच्छा उससे पल्लवित अर्थात् पल्लवावस्थासे परिणमित जो प्रमोद अर्थात् आनन्दाकार चित्तवृत्तिविशेष उससे जो जल उससे व्याकीर्ण अर्थात् व्याप्त अर्थात् देखनेमें अशक्त है कमलसद्श नेत्र जिसका ऐसा । यहां

१ शशांकमण्डलादिको ।

२ देनेकी जो इच्छा उससे सज्जातपल्लव अर्थात् वर्धमान जो आनन्दसम्बन्धी अश्रु तत्संकीर्ण जो लोचन सो ही पयःपूरनिमम्भतासे अम्बुज अर्थात् कमल है जिसका ( पक्षान्तर व्याख्या । )

पल्लवितं न तु फलितमित्यस्याऽपूर्णता ॥ दयावीरस्यो-  
त्साहो यथा-

दुस्तारसंसारपयोधिपारप्रकारमालोचयतो जनानाम् ।

समुत्थितो वक्षसि कैटभारे: कृपांकुरः कौस्तुभकैतवेन ॥ १३ ॥  
अंकुरोपन्यासादपूर्णता ।

‘पल्लवितं न फलितम्’ यह जो कहा इसका फलजनक प्रमोदका विषय सम्पत्तिरूप फलकरिकै फलसम्पत्ति नहीं हुई यह अर्थ जानना । ऐसा हुआ तो सकलवस्तुविषयक दानेच्छाकी जो विषयसम्पत्ति उस विषयसम्पत्तिका जो अभावप्रतिपादक पल्लवित पद है उसका जो यहां व्रहण है सो अनुभावमें अनुभावकता वैगुण्यप्रतिपत्तिकारक होकरीकै अपरिपूर्णताहीमें पर्यवसन्न है सो जानना ॥ अब दयावीरके उत्साहका उदाहरण “दुस्तार” इत्यादिश्छोकसे कहते हैं । श्छोकार्थ यह है कि लोकको हुख्यसे भी तरनेमें अशक्य जो संसाररूप समुद्र अर्थात् अहंताममतात्मकप्रपञ्चरूप समुद्र उसका नो पारप्रकार अर्थात् पारप्राप्तिका साधन सो क्या है इस प्रकार अन्वेषण करनेवाला जो कैटभारि अर्थात् भगवान् उसके वक्षस्थलमें कास्तुभ अर्थात् महामणिके छलसे दयाका लेश उत्थित अर्थात् प्रादुर्भूत हुआ है जो यह मणि दयांकुररूप नहीं होता तो परदुख्यापहारकत्व कामप्रपूरकत्व इत्यादि जो धर्मका स्मरण सो लोक किस प्रकार करते इससे यह दयांकुररूप ही है । यहांभी संसारिजनालम्बक कौस्तुभात्मक कृपांकुराऽनुभावयुक्त परिपूर्ण उत्साह तात्पर्यका विषय नहीं है इस हेतु अंकुरपदप्रतिपाद्य ही है । यही बात “अंकुरोपन्यासादपूर्णता” इस वाक्यसे कहते हैं । यहां यह बात जाननी चाहिये कि “राज्यं मा लभ्यतां कृष्ण विषदः सन्तु भूयसः । किन्तु सत्यं परित्यकुं कम्पते मानसं मम ॥” यहां कम्पते पद दिया और निवर्तते पद नहीं दिया इस हेतु अपरिपूर्ण सत्यवीरोत्साह पूर्वोक्त तीन उत्साहोंसे अतिरिक्तही प्रतीत होता है । यहां कदाचित् यह कहो कि दानवीरान्तर्गत धर्मवीरोत्साहही यह सत्यवीरोत्साह है यह कहना युक्त नहीं क्योंकि दयावीरोत्साहकाभी उक्तोत्साहहीमें अन्तर्भव होजायगा । और सुनो कि “बृहस्पतिरसौ शुक्रो वाचां वा देवता स्वयम् । सभायामुपविष्टा चेत् किं चिद्दक्षुमुपक्रमे ॥” यहां पण्डित्यवीरोत्साहभी अपरिपूर्णरूप किंचित् पदसे जाना जाता है । इसको भी कदाचित् युद्धवीरोत्साहमें अन्तर्भूत करलोगे तोभी “निन्दन्तु केचिदपरे प्रजल्पन्तु दुरुत्तरम् । अहं क्षमांकुरासक्तः प्रतिवक्तुं न शक्नुयाम् ॥” यहां प्रतीयमान जो क्षमावीरोत्साह उसका कहां अन्तर्भव करोगे ? कदाचित् दयावीरोत्साहमें करो तो वलवीरोत्साहमें क्या समाधान करोगे ? देखो “सुखं

अपराधविकृत-रवविकृत-सत्त्वादिजनितोऽपरिपूर्णो मनो-  
विकारो भयम् । यथा-

ताक्ष्यपक्षपवनोपसेवितं  
वीक्ष्यवीक्ष्य यदुनन्दनं पुरः ।

भीतभीत इव तत्र कालियो

मन्दमन्दमुपसर्तुमुद्यतः ॥ १४ ॥

शेषो गुहां यातु कमठः सेवतां जलम् । सर्वं जगत्पक्षकोणे गच्छमान् धर्तुमिच्छति ॥”  
यहां धरति नहीं कहा इससे अपरिपूर्ण बलवीरोत्साहकी प्रतीति होती है इस हेतु  
शृंगारकी तरह नानारूप जो बीर हैं इनका उत्साहभी नानाही है परन्तु प्रकृत ग्रन्थ  
मार्गप्रदर्शक है इस हेतु यहां न्यूनतादोष नहीं जानना ॥

अब भयरूप स्थायिभावका लक्षण “अपराध” इत्यादिवाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ  
यह है कि अपराधसे और विकृत रवसे और विकृत प्राणसे उत्पन्न जो अपरिपूर्ण  
मनोविकार सो भय है । यहां यह शंका होती है कि विकृतरवसे उत्पन्न जो हास वहभी  
भय कहावैगा । इसका यह समाधान है कि मनोविकारमें परम अनर्थविषयकत्व-  
विशेषण देना ऐसा हुआ तो हासरूप मनोविकार परम अनर्थविषयक नहीं है, इस  
हेतु वहां अव्याप्ति नहीं होगी । ऐसा हुआ तो भयका लक्षण ऐसा जानना कि  
अपराधादिकृत जो वैकल्यारूप्य मनोविकार सो भय है । कोई इस ग्रन्थकी यह  
व्याख्या करते हैं कि अपराधसे उत्पन्न जो विकृतरव अथवा विकृतसत्त्व तज्जन्य  
जो मनोविकार सो भय है यही अपराधसे उत्पन्न यह पद नहीं दे तो विकृतरव  
विकृतसत्त्वसे हासरूप मनोविकृति होती है वहभी भय कहावैगा । इस हेतु अप-  
राधसे उत्पन्न यह विशेषण दिया । ऐसा कहा तो जिस विकृत रव और विकृत-  
सत्त्वसे हासरूप मनोविकृति होती है सो विकृत रव विकृत सत्त्व अपराधकृत नहीं है  
और भयजनक जो विकृतरव, विकृतसत्त्व वह अपराधसे उत्पन्न होता है । इससे  
वहां अव्याप्ति नहीं होगी यह मत समीचीन नहीं, क्योंकि जहां व्याघ्रदर्शनसे भयो-  
त्पत्ति हुइ वहां अव्याप्ति होगी क्योंकि व्याघ्र यद्यपि विकृतसत्त्व है परंतु अपराधसे  
उत्पन्न नहीं है ऐसा हुआ तो अपराधसे उत्पन्न जो विकृतरव विकृतसत्त्व  
तज्जन्यमनोविकृतरूप जो भय ताहशभयरूप व्याघ्रदर्शन जन्य भय नहीं  
हुआ । इस हेतु यहां अव्याप्ति होगी इस हेतु पूर्व मतही समीचीन जानना ।  
अब भयरूप स्थायिभावका उदाहरण “ताक्ष्य” इत्यादिश्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ

इवोपन्यासादपूर्णता ॥ अप्रियदर्शनस्पर्शनस्मरणजनिता  
 मनोविकृतिरपरिपूर्णा जुगुप्सा । यथा--  
 शार्दूलशावकचटचटपाटचमान--  
 सारङ्गःशृङ्गःवति भूभृति रामचन्द्रः ।  
 वासं चकार न बभार तथा जुगुप्सां  
 दुःखेषु दुःखमतिरेव न दुःखितानाम् ॥ १६ ॥

यह है कि भीतसेभी भीतकी तरह कालियनामक सर्प कृष्णके समीपमें अतिमन्थर जैसे होय तैसे अनुसरण करनेके अर्थ उद्योगयुक्तहै। क्या करके सो कहतेहैं । गरुडके पक्षसे उत्पन्न जो पवन उससे उपसेवित ऐसे श्रीयदुनन्दनको देख देख करके अर्थात् परीक्षा करके । यहां गरुडपक्षोत्पन्नपवनसेवित कृष्ण हैं यह कहनेसे कालियनागको यह विचार हुआ कि श्रीकृष्णके अधीन है यह गरुड इसलिये हमको दूरकरनेमें इनकी प्रवृत्ति नहींभी होगी तोभी हमारे अपराधजन्यरोषयुक्त श्रीकृष्णको हमारा अपाय करनेवाला जो उपाय है उसके अन्वेषण करनेमें विलम्बभी नहीं होगा, इस हेतु उस बुद्धिका आवेदन करता भय पुष्ट होता है । यहां श्रीकृष्णापराधविभावित मन्दोपसरणाद्यनुभावित जो कालियगत भय वह भयमात्र तात्पर्य-विषय है इस अर्थमें इव पदही प्रमाण है । यही बात “इवोपन्यासादपूर्णता” इस ग्रन्थसे कहतेहैं । इसका यह अभिप्राय है कि पूर्णचर्वणासे विरुद्ध जो संशययुक्तव सो इवशब्दसे जाना जाता है । इसलिये अपूर्णही भयमें तात्पर्य जानाजाता है ।

अब जुगुप्सारूप स्थायिभावका लक्षण कहतेहैं “अप्रिय” इत्यादिवाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि अप्रियवस्तुका दर्शन और स्पर्श करना और स्मरण इनसे उत्पन्न जो अपरिपूर्ण मनोविकार वह जुगुप्साहै । इसका उदाहरण “शार्दूल” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि सिंहके पुत्रसे चटत् चटत् इस प्रकारसे शब्दायमान जैसे होय तैसे विदार्यमाण जो मृग सो है जिसमें ऐसा जो गृंग अर्थात् शिखर उससे युक्त जो पर्वत उसमें रामचन्द्र वास करता भया । तथा कहिये अधिक जैसे होय तैसे जुगुप्साको धारण नहीं करता भया यह इसही अर्थको अर्थान्तरोपन्याससे हठकरतेहैं कि दुःखित पुरुषको दुःख अर्थात् दुःखसाधनवस्तुओंमें दुःखमति अर्थात् दुःखसाधनत्वबुद्धि नहीं ही होती है । यहां पाठ्यमान सारंगसे विभावित जो जुगुप्सा वह अपरिपूर्णही तात्पर्यका विषय है । यह बात ‘न तथा’ इस पदसे जानीजाती है ।

न तथेतिपदादपूर्णता ॥ चमत्कारदर्शनस्पर्शनश्रवणजनितो-  
अपरिपूर्णो मनोविकारो विस्मयः । यथा-

युध्यन्तमर्जुनं वीक्ष्य के वा देवा न विस्मिताः ॥

न मेने बहु गोविन्दो हष्टकर्णपराक्रमः ॥ १६ ॥

न मेने इतिपदादपूर्णता ।

शृङ्गारादौ चमत्कारदर्शनाद्यत्र मनोविकृतिरङ्गतया  
भासते तत्र शृङ्गारादय एव रसाः ॥ प्राधान्येन यत्र भासते  
तत्राद्ग्रुत एव रसः ॥ अङ्गतया यथा-

इसहीको “न तथेतिपदादपूर्णता” इस पदसे कहते हैं। जब न तथा इस पदसे जुगुप्साको अपूर्णताही जमाईगई तो अविशिष्टव्यञ्जकका आक्षेप नहीं होता है सो जानना। अब विस्मयरूप स्थायिभावका लक्षण “चमत्कार” इत्यादिवाक्यसे कहते हैं। वाक्यार्थ यह है कि चमत्कारका दर्शन स्पर्शन स्मरण इससे उत्पन्न जो अपरिपूर्ण मनोविकार आश्रयार्थ वह विस्मय है। यहां चमत्कार पद नहीं दें तो जुगुप्सामें अतिव्याप्ति होगी, इस हेतु चमत्कार यह पद दिया। इसका उदाहरण “युध्यन्तम्” इत्यादिश्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि दुर्योग्यन कहता है कि कृतवर्मके प्रति युद्ध करते हुए अर्जुनको देखकरिके कौन देवता नहीं विस्मयको प्राप्त हुए हैं? अपितु सम्पूर्ण देवता विस्मयको प्राप्त होगये परन्तु गोविन्द जो है सो बहुत नहीं मानता भया अर्थात् जैसे सम्पूर्ण देवता विस्मयको प्राप्त हुये तैसे गोविन्द कि नहीं हुआ किन्तु ईषद्विस्मयको प्राप्त भया। इसमें हेतु यह है कि कैसा है गोविन्द-देवा है कर्णका पराक्रम जिसने ऐसा अर्थात् कर्णका पराक्रम इससे भी अधिक है सो जानताहुआ बहुत नहीं मानता भया। यहां उक्तप्रकार अङ्गत शौर्य दर्शनविभावित केवल विस्मयही तात्पर्यका विषय है। यह बात ‘न मेने’ इसका विषय है यह “न मेने इति पदादपूर्णता” इससे कहते हैं यहां यदि पूर्ण विस्मय कविका तात्पर्य-विषय होवै तो पूर्णविस्मयचर्वणाका वाधकीभूत जो ‘न बहु मेने’ इस पदव्यञ्जय निषेध सो निवद्ध नहीं होता उसका निबन्धन करनेसे यह जानागया कि पूर्ण विस्मयतात्पर्यविषय नहीं है ऐसा हुआ तो यहां व्यञ्जकान्तरका आक्षेप नहीं होगा सो जानना।

अब यहां विस्मयरूप मनोविकारका कहीं अंगतासे कहीं प्रधानतासे उदाहरण होसकता है उसका प्रतिपादन “शृङ्गारादौ” इस वाक्यसे कहते हैं। वाक्यार्थ यह है कि जहां शृङ्गार वा हास्य इत्यादिमें नायकादिका चमत्कार दर्शन करिकै

वैष्म्यं श्रुतिपङ्कजात्प्रकटयत्यानन्दनीरं हशोः

स्वर्णालंकरणाद्यनक्ति पुलको वैधम्यभङ्गश्रियः ।

तस्या नूपुरपद्मरागमहसः पादारविन्दश्रियो

भेदं सिञ्जितमेव वक्ति किमतः शिश्पं विधेर्वर्ण्यताम् ॥ १७ ॥

प्राधान्येन यथा—

विना सायं कोऽयं समुदयति सौरभ्यसुभगः

किरञ्ज्योत्सनाधारामधिधरणि तारापरिवृढः ।

आश्र्याख्य मनोविकाररूप विस्मय अंग होकरिकै भासमान होय वहाँ शृंगारहास्यादिही रस होते हैं और जहाँ वह विस्मय प्रधान हो करिकै भासमान होय तहाँ अमुतही रस है तहाँ अंगभूत विस्मय जहाँ भासमान होता है सो उदाहरण “वैष्म्यम्” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि वह जो वर्णनीय नायिका उसका चक्षुओंके श्रोत्रभूषणीकृत कमलसे वैचित्र्यको आनन्दानुभाव जो अश्रु सो प्रकट अर्थात् अनुमिति गोचरताको प्राप्त करता है। और उसकी अंगश्री अर्थात् तसकाश्वनसदृश शरीरद्युतिको काश्वनमय भूषणसे जो वैचित्र्य उसको पुलक अर्थात् रोमाश्व व्यञ्जित करता है। अर्थात् अनुमान करता है। और उस स्त्रीकी जो पादारविन्दश्री अर्थात् चरणकमलरक्तताकी शोभा उसको चरणभूषण खचित पद्मरागकान्तिसे जो भेद अर्थात् उत्कर्ष उसको सिञ्जित अर्थात् रणितही सूचित करता है। यही ‘वच’ धातु अपने अर्थमें अत्यन्त अनुपयुक्त होकरिकै प्रकाशकरणरूप अर्थमें अर्थान्तरसंकमित है सो जानना। अतः कहिये भेदकधर्म प्राकटयसे पर कहिये और जो विधाताका शिलप अर्थाचातुर्य है उसको वर्णन क्यों कियाजाय यहाँ भूषणपरिधानादिरूप शृंगारमें विस्मय अंगतासे भासित है सो जानना। एक यहभी जानना कि शृंगारादि दृश्यमान होके विस्मयके प्रयोजक होते हैं। स्वरूपसत् विस्मयके प्रयोजक नहीं हैं। इस हेतु दृश्यमान शृंगारमें ही अंगभूत होकरिकै विस्मयका भान होता है सो जानना।

अब विस्मय जहाँ प्रधान होकरिकै भासमान होता है वह उदाहरण “विना सायम्” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं नायिका सर्वीके प्रति यह वावय है। श्लोकार्थ यह है कि सायंकाल विना सौरभ्यसुभग ऐसा तारापरिवृढ़ कहिये

धनुर्धत्ते स्मारं तिरयति विहारं न तमसां  
निरातंकः पंकेरुहयुगलमंके नटयति ॥ १८ ॥

इति श्रीभानुदत्तविरचितायां रसतरंगिण्यां स्थायिभावनिरूपणं  
नाम प्रथमस्तरंगः ॥ १ ॥

ताराधिप अर्थात् चन्द्रमा अदृष्टपूर्व कौन उदित होता है । प्रसिद्धचन्द्र तो सायं  
अर्थात् अभिनवतासे लोचनगोचरताको प्राप्त होता है । कालमें उदितभी है  
तो भी सौरभ्यमुभग कहिये सौगन्ध्यमुन्दर नहीं हैं । क्या करता हुआ उदित  
होता है कि पृथिवीमें ज्योत्स्नाधारा अर्थात् कान्तिधाराको विख्वेता हुआ  
प्रसिद्ध चन्द्रतो नीची और ऊँची कान्तिधाराको प्रकाशित करता है । यह  
चन्द्र तो पृथिवीमें और चारों तरफ कान्तिधाराको प्रसारित करता है । और यह  
जो चन्द्र है सो कामदेवसम्बन्धी धनुषको धारण करता है । और प्रसिद्ध चन्द्र तो  
धनुष धारणही नहीं करता है । और यह चन्द्र अन्धकारका जो विलास उसको दूर  
नहीं करता है और प्रसिद्धचन्द्र तो करता ही है । और यह चन्द्र निरातंक अर्थात्  
निर्भय होके अंक अर्थात् गोदमें पंकेरुहयुगल अर्थात् कमलदण्डको नृत्य कराता है ।  
प्रसिद्धचन्द्र तो नहीं ही कराता है किन्तु कलंकको धारण कराता है । यहाँ साध्यवसान  
लक्षणसे ताराशब्दका जालीकृतमौक्तिकमाला अर्थ समझना, ज्योत्स्नाधारासे कान्ति-  
धारा समझना, स्मारधनुषसे भृकुटी समझना, तमसे कुन्तल समझना, पंकेरुहयुगलसे  
नेत्र समझना इस रीतिसे प्रसिद्ध चन्द्रवैलक्षण्यसे चन्द्राभिन्नतासे रमणीमुख्यवर्णनमें  
अत्याश्रय है । इस हेतु विस्मयही प्रधानतासे सहृदयजनको अनुभवारूढतासे प्रतीति  
विषय है सो जानना । यहाँ चन्द्रमासे आधिक्यवर्णनसे व्यतिरेकालंकारके साथ  
रूपकातिशयोक्तिकी संसृष्टि कही गई ॥

इति श्रीरसतरंगिणीभाषाटीकायां स्थायिभावनिरूपणंनाम प्रथमस्तरंगः ॥ १ ॥

## द्वितीयस्तरङ्गः २.

अथ विभावा निरूप्यन्ते । विशेषेण भावयन्त्युत्पादयन्ति  
ये रसांस्ते विभावाः । ते च द्विविधाः । आलम्बनविभावा  
उदीपनविभावाश्वेति । यमालम्ब्य रस उत्पद्यते स आल-  
म्बनविभावः ।

उत्तर अभिधानमें नियामक जो निर्वाहकतारूप संगति उसको सूचन करते हुए शिष्यसावधानतार्थ विभावनिरूपणप्रतिज्ञा “अथ” इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि स्थायिभावनिरूपणानन्तर विभावनिरूपण करते हैं । अब विभावपदकावाच्यार्थ बोधन करनेके अर्थ विभावका लक्षण करते हैं “विशेषेण” इत्यादि वाक्यपरे । वाक्यार्थ यह है कि विशेष करिके जो भावित अर्थात् उत्पादित करै रसको सो विभाव कहेजातेहैं । विशेषकरिके रसोत्पत्तिजनक जो होय उसको विभाव कहना यह फलित हुआ ऐसा हुआ तो विशेषता प्रकृष्टरसजनकज्ञानविषयता अन्यतर-सम्बन्धावच्छिन्ना जो रसनिष्ठा कार्यता तादृशकार्यतानिरूपिता जो तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना कारणता तादृशकारणतावत्त्वही विभावसामान्य लक्षण जानना । इस लक्षणके माननेवाले विभावका विभाग करते हैं “ते च” इत्यादिवाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि उक्त विभाव दो प्रकारके हैं । अब आलम्बनविभाव शब्दका वाच्यार्थ कहते हुए उसका लक्षण करते हैं । “यमालम्ब्य” इत्यादिवाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि जिसका आलम्बन करिकेही रस उत्पन्न होय वह आलम्बनविभाव कहा जाता है । यहां ही पद नहीं तो जिसको आलम्बन करिके रस उत्पन्न होय ऐसा कहते तो जिस समयमें नायिकाको आलम्बन करिके शृंगार उत्पन्न होता है उस समयमें नियम करिके उदीपनविभावविषयक रति नियमसे नहींभी होती है । तो भी कदाचित् नायिकालम्बनकरतिसमयमें चन्द्रचन्दनाद्यालम्बनकभी रति होती है तो रसका आलम्बन चन्द्रचन्दनादिभी कहावेगा, तो उदीपनविभावमें अतिव्याप्ति होगी इस हेतु हीपद दिया । अब उदीपनविभावमें अतिव्याप्ति नहीं हुई क्योंकि उदीपन विभावका आलम्बन करिके ही रसकी उत्पत्ति नहीं होती है । रसोत्पत्तिकालमें चन्द्रमा चन्दनको रति नियमसे विषय नहीं करती है । नायकनायिकाको तो रति नियमसे विषय करती है । इस हेतु नायकनायिका आलम्बन करिके ही रसकी उत्पत्ति हुई । और चन्द्रचन्दनादिका आलम्बन करिके ही नहीं हुई । इससे चन्द्रचन्दनादिमें अतिव्याप्ति नहीं हुई । नायकनायिकादिमें लक्षणसम्बन्ध

यो रसमुदीपयति स उदीपनविभावः । आलम्बनविभावो  
यथा-

होगया सो जानना ॥ अब यहाँ यह शंका होती है कि नायिकाके अलंकरणादिवस्तुमें कोई वस्तुको नियम करिके रतिका विषयत्व है । तो वहभी आलम्बन विभाव होगा । इसका समाधान यह है कि इसही हेतु आलंबन विभावके लक्षणमें रस उत्पद्यते यह पद दिया है इसका यह अभिप्राय है कि जिसको विषय करनेहीसे चित्तवृत्ति विशेषरूप रत्यादि स्थायिभाव रसपदप्रवृत्तिनिमित्त-रसत्त्ववान् होय वह आलंबन विभाव कहा जाताहै । ऐसा हुआ तो विचार करिके देखो नायिकाविषयिणी रति जो है सो अलंकरणादि विषयकभी होगी तोभी वह रतिरूप स्थायिभाव रसपद प्रवृत्ति निमित्त रसविशिष्ट जो कहावैगा सो भूषण-विषयकत्वसे नहीं कहावैगा, किंतु नायिकाविषयकत्वसे ही कहावैगा । इस हेतु नायिकाही आलम्बनविभाव है भूषण आलंबन विभाव नहीं इससे भूषणादिमें अतिव्याप्ति नहीं हुई सो जानना । अब उदीपन विभावका लक्षण “यो रसमुदीपयति” इत्यादि वाक्यसे कहतेहैं । वाक्यार्थ यह है कि जो रसको उदीपित करे अर्थात् प्रकाशित करे वह उदीपनविभाव कहावै । अभिप्राय यह है कि रसजनक ज्ञानविषय जो है सो उदीपनविभाव है । चन्द्रचन्दनादिका ज्ञान रसका जनक है । इसहेतु रसजनक ज्ञानविषय चन्द्रचन्दनादि है इस हेतु वहाँ लक्षणसमन्वय होगया । यद्यपि चन्द्रचन्दनादिवत् नायिकाभी रसजनकज्ञानविषयहै, क्योंकि नायिकाके ज्ञानसे रसोत्पत्तिहोतीहै तो नायिकादि भी उदीपनविभाव कहावैंगे, तथापि इस प्रकार निवेश करना कि जिसका ज्ञान प्रकृष्टरसजनक होय सो उदीपनविभाव है । ऐसा हुआ तो नायिका ज्ञान प्रकृष्ट रसजनक नहीं है चन्द्रचन्दनादि ज्ञान प्रकृष्टरसजनक है इस हेतु प्रकृष्टरसजनकज्ञान विषय जो चन्द्रचन्दनादि सोही उदीपनविभाव है नायिकादि नहीं है । ऐसा हुआ तो प्रकृष्टरसजनक ज्ञानविषयत्वही उदीपनविभावका लक्षण जानना । आलबनविभावका और रसका कार्यकारणभाव इस रीतिसे जानना कि जहाँ विशेषतासंबंधसे रस होय तहाँ तादात्म्यसंबन्धसे आलंबन विभाव रहे । इसही प्रकार रस और उदीपनविभावकाभी कार्यकारणभावप्रकार यह है कि जहाँ प्रकृष्ट रसजनकज्ञानविषयत्वसंबन्धसे प्रकृष्ट रस रहे । तहाँ तादात्म्य-संबंधसे उदीपन विभाव रहे । ऐसा हुआ । तो दोनों विभावको कारणता होनेमें तादात्म्यसंबन्धही हुआ रसको कार्यता होनेमें दो संबंध हुए, एक तो विशेषता संबंध दूसरा प्रकृष्टरसजनकज्ञान विषयत्वसंबंध । ऐसा हुआ तो रसनिष्ठा कार्यता कही तो विशेषत्व संबंधावच्छिन्ना होगी । कहीं प्रकृष्टरसजनकज्ञानविषयत्व

प्राणस्य प्रतिमूर्तिः प्रत्यात्मा पुण्यलतिकायाः ।  
 अधिदैवतं नयनयोः सा मम या काऽपि सा सैव ॥ १ ॥  
 शृङ्गारस्योदीपनविभावाः । तत्र भरतः—  
 क्रतुमाल्यालंकारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः ।  
 उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति ॥ २ ॥  
 चन्द्रचन्दनादय छहनीया ॥ उदीपनविभावस्योदा-  
 हरणम् । यथा—  
 सन्ध्याशोणाम्बरजवनिका कामिनोः प्रेम नाथं  
 नान्दी भ्राम्यद्वमरविरुद्धं मारिषः कोऽपि कालः ।

संबन्धावच्छिन्ना होगी परन्तु इस कार्यतानिरूपित जो कारणता सो तादात्म्य संबन्धावच्छिन्ना ही है इस हेतु पूर्वोक्त विभावलक्षण सभीचीन होगया सो जानना । यही मार्ग संपूर्ण रसमें जान लेना । अब शृंगार रसके आलंबन विभावका उदाहरण “प्राणस्य” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि कोई नायिकाको प्रेमकी दृष्टिका निवेदन करनेवाली सखीके प्रति नायककी उक्ति है कि प्राणके सदृश पुण्यलतारूपही नयनका अधिदैवत अर्थात् जिस विना नयनको अन्धताही है ऐसी जो कोई प्राणकी सदृशतासे पुण्यलताको स्वरूपतासे अथवा नयनके अधिदैवतत्वसे व्यवहारयोग्य हमारे वह है वो ही । अर्थात् हमारी तत्तद्रूपही सो अर्थात् उद्दिष्टनायिका है अर्थात् जिसका तू वर्णन करती है वह है । यहाँ नायिकाविषयक रति नायकनिष्ठ है । इस हेतु नायकनिष्ठ रतिमें नायिका आलम्बनविभाव भई । अब शृंगारके उदीपनविभाव प्रमाणपुरःसर कहते हैं “तत्र” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि शृंगारके उदीपनविभावविषयमें भरतसम्मतिभी हैं सो उदीपनविभाव एक तो क्रतु और माला और आभूषण इनकरिके और प्रियजन अर्थात् आलम्बनसम्बन्धी सख्यादि और गान्धर्व अर्थात् गान और काव्य इनकों सेवन करिके और उपवनमें गमन और विहार करिके शृंगार रस उत्पन्न होता है अर्थात् प्रकर्षको प्राप्त होता है इस हेतु क्रतुमाल्यादिही है । चन्द्रमा और चन्दन इत्यादिका ऊह कर लेना अर्थात् यह भी उदीपन विभाव है सो जान लेना । अब उदीपनविभावका उदाहरण “सन्ध्या” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि सुधादीधिति अर्थात् चन्द्रमा जो है सो ही जो सूत्रधार सो पुष्पकेतु अर्थात् मदनके नृत्यारम्भको जनाता हुआ प्रवेश करता है अर्थात् रंगभूमिका विषय होता है ।

तारापुष्पाभ्यलिमिव किरन्सूचयन्पुष्पकेती-

नृत्यारम्भं प्रविशति सुधादीधितिः सूत्रधारः ॥ ३ ॥

अथ हास्यरसस्य विभावाः । तत्र भरतः -

विपरीतालंकारैर्विकृताचाराऽभिधानवेशैश्च ।

विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ॥ ४ ॥

अंगवैकृतादय ऊहनीयाः । यथा -

केयूरं घर्वरथन्प्रमयन्मौलिं विवर्तयन्बाहुप् ।

नेत्राश्वलं चपलयन्नटयति मायाशिशुच्छायाम् ॥ ५ ॥

क्या करता हुआ, तारा अर्थात् नक्षत्रही जो पुष्प उनकी जो अञ्जलि उसको मानो विखेता हुआ । रंगभूमिकी सामग्री दिखाते हैं कि सन्ध्याकालका जो ताम्रमेघ सोही जबनिका अर्थात् पड़दा है अथवा सन्ध्या जो कालहै सो ही रक्तबख्की जबनिका है ऐसी व्याख्यामें “मारिषः कोपि कालः” इसका यह अर्थ करना कि वसन्तादि जो काल सो ही मारिष अर्थात् विदूषक है और कामी और कामिनीका जो परस्परालम्बन प्रेम वह नाट्य है भ्रमण करतेहुए जो भ्रमर उनका जो शब्द अर्थात् सन्ध्याकालमें संकुचित जो कमल उससे निर्गत जो मधुकर उनका जो रणित सोही नान्दी है और कोई जो चन्द्रोदयोपलक्षित काल है अर्थात् समय है वह मारिष अर्थात् सूत्रधारका सधर्मा पुरुष है । यहां चन्द्रादि सम्पूर्ण पदार्थ शृंगारका उदीपनविभाव जानना ॥

अब हास्यरसका विभाव कहतेहैं “तत्र भरतः” इत्यादिसे । इसका अर्थ यह है कि हास्यके विभाव भरतजनि भी कहते हैं “विपरीता” इत्यादि वाक्यसं वाक्यार्थ यह है कि विपरीत आभूषणोंसे और विकृताचारसे और विकृतभिधानसे और विकृतवेषसे और विकृत अर्थ विशेषोंसे लोक हंसताहै इसलिये यह रस हास्य कहाताहै बाहुआदिके भूषणको पादआदिमें पहिरनेसे विपरीतालंकार कहते हैं और ग्रीष्मसमयमें वहि सेवनकरना इसको विकृताचार कहते हैं । किन्तु कहनेके स्थानमें किनलकहना विकृताभिधान है, वस्त्रादिपरिधानकृत जो संनिवेश वह विकृतवेष है, कुञ्जवामनादिही अर्थविशेष है । और खञ्जत्व काणत्वादि जो अंगवैकृत उसकाभी ऊह करदेना । अब हास्यरसके विभावका उदाहरण “केयूरम्” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि नट जो है सो मायाकरिकै शिशुसदृश जो बालमुकुन्दमूर्ति उसको नृत्य-

द्वितीयः २. ]

## भाषाटीकासहिता ।

( ३५ )

अथ करुणरसस्य विभावाः । तत्र भरतः—

ष्टजनस्य विनाशाच्छापात्कलेशाच्च बन्धनाद्यसनात् ।

एतैरर्थविशेषैः करुणाख्यरसः समुद्भवति ॥ ६ ॥

बन्धुदारिद्र्यादय ऊहनीयाः । यथा—

त्वां पश्यतो भुजगपाशनिबद्धदेह—

मद्याऽपि मे यदसवो न बहिः प्रयान्ति ।

नेत्रे निमीलयसि पश्यसि नैव ताव-

दास्यं मदीयमिति लक्ष्मण युक्तमेव ॥ ७ ॥

अथ रौद्ररसस्य विभावाः । तत्र भरतः—

विशिष्ट कराता है । क्या करता हुआ, केयूर जो बाहुभूषण सो यद्यपि शब्दयुक्त नहीं है तो भी उसको क्षणनव्यापार कराता हुआ यह कहनेसे विपरीत आचार दिखाया । अथवा घर्वर कहिये पादभूषण केयूरको पादभूषण करता हुआ इससे विपरीतालंकार कहा और मस्तकको भ्रमाता हुआ और बाहुको इतस्तः फैकता हुआ और नेत्रप्रान्तको चञ्चलतायुक्त करता हुआ अर्थात् दूर करता हुआ । यहां हास्यरसका आलम्बनविभाव तो कृष्ण हैं और विपरीतालंकारादि उद्दीपनविभाव हैं सो जानना ॥

अब करुणरसका विभाव कहते हैं, तहाँ भरतममति दिखाते हैं “इष्टजनस्य” इत्यादिवाक्यसे वाक्यार्थ यह है कि इन अर्थविशेषोंसे करुणाख्यरस उत्पन्न होता है । इस प्रकार सामान्यरूपसे वाक्यार्थ बोधकरिके विशेष जिज्ञासा हुई कि कौन अर्थविशेष, पश्चात् यह कहना कि इष्टजनके विनाशसे और इष्टजनके शापसे इष्टजनके ज्वरादि क्लेशसे इष्टजनके बन्धनसे इष्टजनके विपत्तिरूप व्यसनसे करुणरस होता है । बन्धुजनके दारिद्र्यकाभी ऊह करनेनाइसका उदाहरण “त्वां पश्यतः” इत्यादिश्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि राम कहते हैं कि हे लक्ष्मण ! नागपाशसे बांधा है देह जिसका ऐसा जो तू उसको देखता हुआ जो मैं हूँ उसके अबभी प्राण बाहर नहीं जाते हैं इस हेतु तू नेत्रोंको मीचता है, मेरे मुखको नहीं देखता है सो युक्त ही है । यहां करुणाका आलम्बन तो लक्ष्मण है और उसका बन्धन उद्दीपन है । अब रौद्ररसके

आयुधखड्गाभिभवाद्वैकृतभेदाद्विदारणाचैव  
 संग्रामसंभवार्थादेभ्यः सञ्चायते रौद्रः ॥ ८ ॥  
 वैरिदर्शननिर्भर्त्सनादय ऊहनीयाः । यथा--  
 तन्वन्ती तिमिरघुतिं कृतवती प्रत्यर्थिचक्रव्यथा--  
 मेषा भार्गव तावकी विजयते निष्ठिंशधारा निशा ।  
 युद्धकुद्धविपक्षपक्षविदलत्कुम्भीन्द्रकुम्भस्थल—  
 भ्रश्यन्मौक्तिककैतवेन परितस्तारावलीं वर्षति ॥ ९ ॥  
 अथ वीरस्तस्य विभावाः । तत्र भरतः—  
 उत्साहाध्यवसायादविषारित्वादविस्मयान्मोहात् ।  
 विविधादर्थविशेषाद्वीररसो नाम संभवति ॥ १० ॥

विभाव कहते हैं तद्दां भरतसम्मति दिखाते हैं “आयुध” इत्यादि वाक्यसे वाक्यार्थ यह है कि आयुधरूप जो खड़ग उसके पराभवसे और कैकृतभेद कहिये अनादरचेष्टासे और विदारण कहिये निकृन्तनसे और संग्रामसे और सम्भव अर्थ कहिये आकमणादिसे रौद्ररस उत्पन्न होता है । यहां वाक्यार्थमें सामान्यविशेषभाव पूर्ववत् जानलेना । अब यहां यह शंका होती है कि खड़गपद क्यों दिया? इसका समाधान यह है कि आयुधके उत्कर्षपक्षकृत अभिभवसे रौद्ररस नहीं होता है इसलिये खड़गपद दिया फिर शंका हुई कि आयुधपद क्यों दिया? इसका समाधान यह है कि प्रमादपतित खड़गाभिभवसे रौद्ररस नहीं होता है इस हेतु आयुधपर दिया । यहां अभिभवशब्द पराभवमात्रार्थक है, इस हेतु विदारणसे पौनरुत्तय नहीं हुआ सो जानना । और बन्धुका बध और डरपाना इत्यादिका भी ऊह करदेना अब रौद्ररसके विभावका उदाहरण “तन्वन्ती” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि हे भार्गव! अर्थात् परशुराम यह जो आपकी खड़गधारारूप रात्रि सो सर्वोत्कर्षसे वर्तती है, खड़गधाराको रात्रिसाम्यके बोधकसाधारण धर्मोंका प्रतिपादन करनेके अर्थ खड़गधारारूप रात्रिको विशेषणयुक्त करते हैं । कैसी है खड़गधारारूप रात्रि सो कहते हैं कि अन्धकारकी कान्तिको विस्तारित करती हुई फिर कैसी है कि शत्रुजनोंका जो चक्र सोही हुआ चक्रवाक उनकी व्यथाको करती हुई ऐसी, फिर कैसी है कि संग्राममें कुद्ध जो शत्रुपक्ष अर्थात् शत्रुसेना उसमें विदीर्ण जो श्रेष्ठ गजका कुम्भस्थल उससे पड़ते हुए जो मौक्तिक उनके छलसे चौतरफ तारावलीको वर्षण करती है । यहां रौद्ररसके आलम्बनविभाव तो शहू हैं और संग्रामादि उद्दीपन विभाव हैं ॥  
 अब वीररसके विभाव कहते हैं । तद्दां भरतसम्मति दिखाते हैं “उत्साह” इत्यादि

विजयबलादय ऊहनीयाः । यथा-

लंकाधिपः संयति शंकनीयो जम्भारिदम्भापहबाहुवीर्यः ।

इत्यालपन्तं हनुमन्तमेष रामः स्मितैरुत्तरयाञ्चकार ॥ ११ ॥

दानवीरस्य विभावो यथा-

वपुषा विनयं वहन्ति केचिद्वचसा केऽपि चरन्ति चारुचर्याम् ।

अतिथौ समुपागते सपर्यां पुलकैः पल्लवयन्ति केऽपि सन्तः १२  
दयावीरस्य विभावो यथा-

कथमविरलजाग्रद्भक्तिभाजो निशायां

तमसि दुरवगाहे प्राणिनो वीक्षणीयाः ।

वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि उत्साहयुक्त अध्यवसाय अर्थात् बुद्धिसे विषादके अभावसे विस्मयाभावसे और मोहकारण क्रोधसे और उत्साहकारणत्वसे लोकशास्त्रावगत विविधपदार्थोंसे वीररस उत्पन्न होता है । और विजय बल इत्यादिका भी ऊह करदेना । इसका उदाहरण “लंकाधिपः” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । क्षोकार्थ यह है कि यह जो राम है सो इस प्रकारसे कहनेवाले हनुमानको उत्साह-सम्भव ईष्टहाससे उत्तर करता भया, किस प्रकारसे कहते हैं कि जम्भारि जो इन्द्र उसका जो अभिमान उसका अपहरण करनेवाला है वाहुवीर्य जिसका ऐसा जो लंकाधिप अर्थात् रावण सो संग्राममें शंकनीय है अर्थात् बलवान् अनर्थकी हेतुतासे सम्भावना योग्य है । इस प्रकार यहां वीररसका आलम्बन रावण है, और हनुमानका कथन उदीपन है । अब दानवीरको विभावका उदाहरण “वपुषा” इत्यादि १३ क्षोकसे कहते हैं, क्षोकार्थ यह है कि अतिथि अर्थात् याचक समागत होतसन्ते कोई अर्थात् व्यवहारमात्र कुशल जो जन स्त्रौ शरीरसे विनय जो है परोपसर्पण उसको प्राप्त होते हैं । और कोई अर्थात् शास्त्रनिष्णातबुद्धि जो पुरुष सो वचन अर्थात् स्तुतिसे चारुचर्या अर्थात् शिष्ठाचारको सम्पादन करते हैं । और कोई जो सन्त अर्थात् महामहिमपुण्यशील सो तो पुलक अर्थात् रोमाञ्चसे सपर्या अर्थात् पूजाको आरम्भयुक्त करते हैं । यहां आलम्बन तो अतिथि है और उदीपन अतिथिका आगमन है । अब दयावीरविभावका उदाहरण कहते हैं “कथम्” इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि सुरारि अर्थात् श्रीकृष्ण जो है सो प्रकाश-

इति किमु समुद्रदीपलेखाभिराम-

ब्रुतिसुरसि मुरारिः कौस्तुभं सम्बभार ॥ १२ ॥

ननु स्वनिष्ठ उत्साहः कथमुदीपनविभावो भवतीति चेत-

मान और दीपकलिकासहश कान्तियुक्त ऐसी जो कौस्तुभमणि उसको धारण करता भया सो निरन्तर उद्योगयुक्त जो भजन उससे युक्त जो लोक है सो अत्यन्त अन्धकारयुक्त रात्रिमें किस तरह देखने योग्य होंगे यह विचार करिके। क्या यहां आसिद्धविषया हेतुत्प्रेक्षा है, यह हेतुत्प्रेक्षा निरुपाधि परदुःखप्रहरणेच्छारूप दयाको पुष्ट करती है यहां आलम्बन भक्तजन है। और अन्धकारयुक्त रात्रिमें वीक्षणयोग्यता उदीपन है।

अब यहां यह शंका हुई कि 'उत्साहाध्यवसायात्' यह पद जो दिया इससे उत्साहको उदीपन विभाव माननेमें अभिप्राय है अथवा उत्साहयुक्तताबुद्धिरूप जो उत्साहाध्यवसाय ताको उदीपनविभाव माननेमें अभिप्राय है। यहां प्रथमपक्ष नहीं बनसकता है क्योंकि उत्साहरूप स्थायिभावका उदीपक उत्साही कैसे होगा? आपका उदीपक आप नहीं होसकता है। और द्वितीयपक्षभी नहीं बन सकेगा क्योंकि उत्साहयुक्तताबुद्धिको उत्साहके आधिकरणमें स्थिति होनेसे पक्षवृत्तित्वनियम होगा इस हेतु और उत्साहयुक्तताबुद्धि उत्साहसे उत्पन्न होती है इस हेतुभी उत्साहकी अनुभावकता उसमें ध्रुव होजायगी सो होनेसे अनुभावकता कहना उसको उचित है विभावकता कहना उचित नहीं। इसही वातको "ननु" इत्यादि वाक्यसे कहते हैं। वाक्यार्थ यह है कि स्वनिष्ठ अर्थात् उत्साहयुक्त पुरुषमें स्थित जो उत्साह सो उदीपनविभाव कैसे होगा? उत्साहशब्दसे उत्साहयुक्त बुद्धिभी लेनेना ऐसा हुआ तो यह अभिप्राय हुआ कि उत्साह तो उत्साहकी उदीपक नहीं होसकेगा और उत्साहका कार्य जो उत्साहयुक्तताबुद्धिहै सो उत्साहका अनुभावभूत है इस हेतु उत्साह वा उत्साहयुक्तताबुद्धि दोनोंको उत्साहकी कारणता नहीं होसकेगी। इसका समाधान यह है कि जगतमें जितनी उत्साहयुक्तताबुद्धि है सो सबही उत्साहजन्य है, यह नियम नहीं किन्तु उत्साहअंशमें लौकिकसन्निकर्षजन्य जो उत्साहयुक्तताबुद्धि सो ही उत्साहजन्य है और भावि जो उत्साहतादृशउत्साहयुक्तताबुद्धि तो उत्साहअंशमें अलौकिकहै अर्थात् ज्ञानलक्षणासन्निकर्षजन्य है वह बुद्धि उत्साहविनाही उत्पन्न होती है और उत्साहको उदीपन करनेमें समर्थ होती है। उस बुद्धिविषय जो उत्साह उसको उदीपनविभावना होनेमें वाधक नहीं, इसही हेतु आपको आपकी जनकता होनेमें वैमत्य होता है उसके परिहारके,

द्वितीयः ३.]

## भाषाटीकासहिता ।

( ३९ )

सत्यम् । उदीपनविभावो ज्ञायमान एव गमकः । स च स्व-  
निष्ठः परनिष्ठो वेति न विशेषः ॥ अनुभावस्तु स्वनिष्ठ एव-

अर्थ ही 'उत्साहाध्यवसायात्' यह भरताचार्यने कहा । इसही अभिप्रायसे "सत्यम्" इत्यादिवाक्यसे उत्तर देते हैं । वाक्यार्थ यह है कि उदीपनविभाव वस्तुज्ञानका विषयहीं गमक होता है । यहां एवकार जो दिया उससे ज्ञानके विषे उत्साहजन्यत्वका और उत्साहव्याप्ति और उत्साहका आश्रयभूत जो पक्ष तदृत्तित्व दोनों विषयताका निराकरण किया । यही दोनों विषयता अनुमापकतामें उपयुक्त हैं । यह कहनेसे उत्साहयुक्तताबुद्धिको अनुभावकताका खण्डन किया । ज्ञायमान जो उत्साह है सो स्वनिष्ठ होय तो परनिष्ठ होय तो एतत्कृत कुछ विशेष नहीं जानना । यह कहनेका यह अभिप्राय है कि पक्षम नहीं रहनेवाला जो पदार्थ वह जिस प्रकार उदीपनविभाव होता है इसही रीतिसे पक्षमें रहनेवाली वस्तुको भी उदीपनविभावत्व होनेमें कुछ विशेष नहीं है इस हेतु उत्साहयुक्तताबुद्धि अनुभाव नहीं होगी किन्तु उदीपनविभावही होगा सो जानना ।

यहां कोई यह शंका करे कि अध्यवसायविषय जो उत्साह है सो उदीपन-विभाव तो मानाही गयाहै परन्तु अनुभाव उसको क्यों नहीं मानते हो ? इसका समाधान यह है कि उत्साहसे उत्पन्न जो है सो ही उत्साहका अनुभाव कहावैगा । अध्यवसायविषय जो उत्साह है सो उत्साहजन्य नहीं है । क्योंकि स्वजन्यत्व स्वमें नहीं होता है इस हेतु अध्यवसायविषय जो उत्साह सो उत्साहका अनुभाव नहीं होसकैगा । इसही हेतु उत्साहका उपनीतभानात्मक जो उत्साहयुक्तताबुद्धि उसको भी अनुभावकता नहीं होगी, क्योंकि आपका जो उपनीत भान है उसकी आपसे उत्पत्ति नहीं होसकती है, इस हेतु वह उपनीत भान अनुभाव नहीं होसकैगा । कश्चित् यह कहो कि उत्साहसे उत्पन्न हुआ जो उत्साहका लौकिक ज्ञान तादृशज्ञानात्मक जो उत्साहयुक्तताबुद्धि उसको उत्साहकी अनुभावकता होगी सोभी नहीं बनसकैगी क्योंकि अनुभावक वस्तुका व्याप्ति और पक्षधर्मता इस करिके युक्त होकरिके जब ज्ञान होता है तब वह अनुभव कराता है । यहां लौकिक उत्साहयुक्तताबुद्धिको व्याप्तिमत्त्व है परन्तु पक्षवृत्तित्वकारिकै उनका ज्ञान नहीं है इससे वह अनुभाव नहीं कहा सकेंगे । इसही अभिप्रायसे "अनुभावस्तु" इत्यादि कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि अनुभाव जो है सो तो स्वनिष्ठही अर्थात् पक्षमें स्थित होकरिकै ही गमक अर्थात् अनुभावक होसकते हैं यही उत्साहयुक्तताबुद्धि पक्षमें स्थित नहीं है इसहेतु अनुभाव नहीं होगा । यहां यह शंका दुई कि उत्साह

गमकः। तस्यानुमापकत्वेन पक्षवृत्तित्वादिनियमादिति ॥  
 ननु दयावीरः कथं करुण एव नान्तर्भवति, निरुपाधि-  
 परदुःखप्रहरणेच्छा दया । सा च करुणया विना न संभव-  
 तीतिचेत्र । करुणस्य स्थायिभावः शोकः, दयावीरस्य

व्याप्य 'उत्साहयुक्तामतिमानहम्' इस प्रकारसे व्याप्तिविशिष्ट वैशिष्ठ्यावगाही परामर्श हो जायगा तो पक्षधर्मताज्ञान बन जायगा फिर उत्साहयुक्ताबुद्धि अनुभाव क्यों नहीं होगा । इसका समाधान "तस्य" इत्यादिवाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि अनुभाव जो वस्तु है ताको अनुमापकत्व अर्थात् अनुमितिजनक ज्ञानविषयत्व होनेसे पक्षवृत्तित्वका अर्थात् पक्षवृत्तित्वकरिके ज्ञानविषयत्वका अवश्य स्थितिहै । इसका अभिप्राय यह है कि उत्साहव्याप्य 'उत्साहयुक्तामतिमानहम्' इत्याकारक उत्साहांशमें लौकिक ज्ञानपक्षमें उत्साहवत्त्वावगाही होसकैगा परन्तु इस ज्ञानके होनेसे सिद्धि रहजायगी । सिद्धि रहनेपर उत्साहयुक्त पुरुष पक्ष नहीं बन सकैगा, क्योंकि वही उत्साह संदिग्ध नहीं हैं ऐसा हुआ तो पक्षता विशिष्ट वह नहीं हुवा ऐसा हुआ । तो फिर पक्षत्वाविशिष्टमें धर्मता करिके ज्ञानभी उनका नहीं होसकैगा फिर वह अनुभवभी नहीं करासकेंगे इससे वह अनुभावक नहीं कहावेंगे ॥

अब यह शंका होतीहै कि निरुपाधि परदुःखप्रहरणेच्छारूप जो दया सो हुःखमें द्विष्टसाधनताज्ञान होनेहसे होतीहै ऐसा हुआ तो दयाकृत उत्साहकालमें अवश्य करिके द्विष्टसाधनताज्ञानजन्य द्रेष्विषयीभूत किञ्चिद्दस्तु इष्टजनसंबन्धिताकरिकै विज्ञात है इस हेतु तज्जन्य चित्तवैकुञ्ज भी अवश्यही होगा फिर दयाको पृथक करिके क्यों कहा ? करुणासेही निर्वाह होजायगा यह बात "ननु" इत्यादिप्रन्थसे कहते हैं । इस ग्रन्थका अर्थ यह है कि दयावीर करुणामें अन्तभूत क्यों नहीं होताहै अर्थात् दयावीरस्थानमें करुणारसही क्यों नहीं कहते हो ? क्योंकि निरुपाधि परदुःखप्रहरणेच्छा जो दया सो करुणा विना नहीं होसकतीहै तो करुणारस तो अवश्य मानना होगा, करुणके विना नहीं होनेवाली जो दया ताको करुणहीमें अन्तर्भवयुक्त है । अब इस संदाका उत्तर "करुणस्य" इत्यादि ग्रन्थसे कहते हैं, इस ग्रन्थका यह अभिप्राय है कि करुणरसका स्थायिभाव शोकहै, दयावीरका स्थायिभाव उत्साह है इस प्रकारसे स्थायिभाव भेद होनेसे दयावीर भिन्न कहावेगा, करुणरस भिन्न कहावेगा ऐसा हुआ तो दयावीर किस प्रकार करुणमें अन्तर्भूत होगा, अपि तु नहीं होग

स्थायिभावउत्साह इति स्थायिभावमेदेन भेदाद् ॥ ननु  
दयावीरे करुणरसप्रतीतेः का गतिरिति चेत् । सत्यम् ।  
करुणया विना दयावीरस्याऽननुभवादिति करुणाया-  
स्तत्रानुभावकत्वादिति ॥

अथ भयानकस्य विभावाः । तत्र भरतः—

विकृतरवसत्त्वदर्शनसङ्ग्रामारण्यशून्यगृहगमनाद् ।  
गुरुनृपयोरपराधात्कृतकः स भयानको ज्ञेयः ॥ १४ ॥  
धाटीबन्धुबन्धनश्रवणश्मशानदर्शनादय ऊहनीयाः ।

यथा—

उद्यत्कान्तिकठोरकेसरदलत्पाथोधरप्रसखल-  
द्विद्युदीधितिकाञ्चनीकृतजगन्निःशेषभूमीधरः ।

मिन्न ही रहेगा सो जानना । अब यह शंका हुई कि स्थायिभावमें इसे रसमेदको मानो तो करुणसे भिन्नताकारिके दयावीररस प्रतीति क्यों नहीं होतीहै ? यह शंका “ननु” इत्यादि ग्रन्थसे कहतेहैं । इस ग्रन्थका यह अर्थ है कि दयावीरमें करुणरसकी जो प्रतीति होती है उसकी क्या गति है अर्थात् भिन्नता करिके दयावीर रसकी प्रतीति क्यों नहीं होती है । इसका समाधान यह है कि करुणा विना दयावीरका अनुभव नहीं होताहै इस हेतु दयावीरमें करुण रसकी अनुभावकता है तो जहाँ दयावीरकी प्रतीति होगी वहाँ करुण रसका अनुभाव होगाही इसही हेतु भिन्नता करिके दयावीरकी प्रतीति नहीं होती है, करुणके साथही प्रतीति होती है । यही बात ‘करुणया विना’ इत्यादि ग्रन्थसे कही है सो जानना ॥

अब भयानक रसके विभाव कहतेहैं, तहाँ भरतमुनिकी सम्मति दिखातेहैं “विकृतरव” इत्यादि वाक्यसे । इस वाक्यका यह अर्थ है कि विकृत(बदले)हुए शब्दसे युक्त प्राणीका दर्शन और संग्राम अथवावन अथवा शून्य घर इनमें जाना इससे और गुरु और नृप इनके अपराधसे किया हुआ ऐसा भवानक रस होता है सो जानना । और धैर्य और वन्धुओंके बन्धनका श्रवण और श्मशानदर्शन इत्यादिका भी ऊह (आक्षेप) करलेना । इसका उदाहरण “उद्यत्कान्ति” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि लोकोंने मायाहरि अर्थात् नृसिंहस्वरूपको देखा, कैसा है मायाहरि सो

स्फुर्जेत्कण्ठनिनादभिन्नवसुधामार्गप्रविष्टद्विज-

प्रौढाशीर्वचनप्रहर्षितबलिव्यालोकि मायाहरिः ॥ १५ ॥

अथ बीभत्सस्य विभावाः । तत्र भरतः-

अनभिमतदर्शनेन च गन्धरसस्पर्शदोषैश्च ।

उद्गेजनैश्च वहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति ॥ १६ ॥

अहृद्यवस्तूनां श्रवणादय ऊहनीयाः ॥ यथा-

योधानामधरैरशोककुसुमैर्नेत्रैः सितैरम्बुजै-

दन्तैः कुन्ददलैः करैः सरसिजैः संपाद्य पुष्पाञ्चलिम् ।

कहते हैं कि प्रकाशमान और तीक्ष्ण जो केसर अर्थात् सटा उनसे स्फुटित जो पाथोधर अर्थात् मेघ उनसे प्रकट होती हुई जो विजलियां उनकी किरणोंसे काञ्चनरूप करिके सम्पन्न ऐसे किये हैं जगत्के सम्पूर्ण पर्वत जिसने ऐसा । फिर कैसा है कि प्रकर्ष करिके बढ़ा हुआ जो कण्ठगर्जन उनसे विदीर्ण जो पृथिवी उस पृथिवीके उसी विवरमें प्रविष्ट जो ब्राह्मण उनके ओजयुक्त जो आशीर्वादवचन अर्थात् अभयतात्पर्यसे उच्चारण किये हुए वचन उन वचनोंसे प्रहर्षित अर्थात् इर्षयुक्त किया है बलिका गृह जिसने ऐसा । यहां नामग्रहणमें नामैकदेशका ग्रहण कियाहै सो जानना । यहां भयानकका आलम्बन नृसिंह है और उसका जो विकृत रव (शब्द) सो उहीपन है । और बलिसभास्थित महाजनोंमें व्यञ्जित हुआ बलि तो दानवीर है उसको हर्षोत्पत्ति होनेसे भी क्षति नहीं है ।

अब बीभत्स रसके विभाव कहते हैं, तहां भरतसम्मति दिखाते हैं । “अनभिमत” इत्यादिवाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि अनीपिसत वस्तुके दर्शनसे और गन्धरस तथा स्पर्श इनके दोषसे और उद्गेजनक जो बहुत वस्तु उनसे बीभत्स रस उत्पन्न होताहै । और अप्रिय वस्तुके जो श्रवणदर्शनादि उनकाभी ऊह कर लेना । इसका उदाहरण “योधानाम्” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि हाथियोंके रक्तसे अवसिक्त अर्थात् लिम ऐसे कुत्सित अंग हैं जिनके ऐसे जो प्रेतोंके बटुक अर्थात् बालक वे महादेवके आगे नृत्यका आरम्भ करते हैं । क्या करिके सो कहते हैं कि योद्धाओंका जो ओष्ठ सोही रक्तता करिके हुआ अशोकपुष्प और नेत्र जो हैं सोही नीरक्ततासे हुए श्वेत कमल और दन्त जो हैं सो स्वच्छ समानाङ्कतिसे हुए कुन्ददल और संकुचितांगुलिदलयुक्त होनेसे हस्त

द्वितीयः २ ]

भाषाटीकासहिता ।

( ४३ )

शिल्हीं कर्णयुगे विधाय करिणां रक्तावसिक्तांगकैः

प्रेतानां बटुकैः पुरः पुरमिदो नृत्यं समारभ्यते ॥ १७ ॥

अथाद्भुतरसस्य विभावाः । अत्र भरतः-

यत्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं च कर्म रूपं च ।

तत्संबद्धैरथैः रसोऽद्भुतो नाम सम्भवति ॥ १८ ॥

मायेन्द्रजालार्थलाभादय ऊहनीयाः ॥ यथा-

उदामोदाममाद्यत्प्रतिभटदलनोदग्रजाग्रत्प्रभावः

सोऽयं देवो मुदे वो भवतु नरहरिस्तारिताशेषविश्वः ।

जो हैं सोही हुए सरसिज इनसे पुष्पाञ्जलि संपादन करिकै, फिर क्या करिकै, शिल्ही जो झींगुर उसको दोनों कानोंमें धर करिकै अर्थात् दोनों पार्श्वमें स्थित वाद्य-विशेषद्वयकरिकै । यहां बीभत्सके आलम्बन तो प्रेत हैं और अधरादिका दर्शनादि उद्दीपन है सो जानना ॥

अब अद्भुतरसको विभाव कहते हैं तदां भरतसम्मति दिखाते हैं । “यत्त्वतिशयार्थयुक्तम्” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि आश्र्वर्थ करिकैयुक्त जो वाक्य अर्थात् वन्ध्यापुत्र मैंने देखा है इत्यादि वाक्य और शिल्प और कर्म यह दोनों भी अतिशयार्थ युक्तही जानना । इससे मिलित जो अर्थ हैं उनसे अद्भुतनाम रस होता है । और माया, इन्द्रजाल, अर्थलाभादिकाभी ऊह करलेना ॥

यहां मायाशब्दका अर्थ तपःसाध्य प्रभावातिशय है, इसका उदाहरण ग्रन्थान्तरमें अर्थात् अभिज्ञानशाकुन्तलनाम नाटकमें है यहां नहीं दिखाया । अब अतिशयार्थयुक्तवाक्यसे संबद्ध अर्थसे अद्भुतरसका उदाहरण दिखाते हैं “उदामोदाम” इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि सकलपरमानर्थविनाशक होनेसे तारित किया है सम्पूर्ण विश्व जिसने ऐसा जो वह प्रसिद्ध नृसिंहदेव सो तुम्हारे कल्याणकेलिये होवो । वह कौन सो कहते हैं कि जिसके प्रौढप्रतापसे उद्भट अर्थात् दुर्लिंगीक्ष्य और विकट कहिये कराल ऐसी जो सटाकोटि अर्थात् केसरोंके आग्रभाग उनसे विदारित जो मेघ तिनके आँतही मानों बिजलीके छलसे बाहर निकले हैं । वह नृसिंह कैसा है कि अधिकसे अधिक मदयुक्त जो शत्रु तिनके दलनसे उदय अर्थात् सातिशय जाग्रत् अर्थात् अनुभूयमानः प्रभाव अर्थात् प्रताप है जिसका ऐसा । यहां अद्भुत रसको आलम्बन तो नृसिंह है और अतिशयार्थ युक्त जो

यस्य प्रौढप्रतापोद्दटविकटसटाकोटिभिः पाटिताना—  
मन्त्राण्यम्भोधरणां बहिरिव निरगुर्विद्युतां कैतेवेन ॥ १९ ॥  
इन्द्रजालार्थलाभो यथा—

व्योमि प्रांगणसीम्नि सान्ध्यकिरणं विस्तीर्य चेलाश्वलं  
ध्वान्तैः कार्मणपांसुभिस्त्रिजगतां नेत्राणि संमोहयन् ।  
ताराः शौक्तिकमौक्तिकानि विहगश्रेणीरकच्छद्गना  
ज्ञिंझीकृत्य बहिः करोति वदनात्पञ्चाशुगो मायिकः ॥ २० ॥

इति श्रीभानुदत्तविरचितायां रसतरंगिण्यां विभावनिरूपणं  
नाम द्वितीयस्तरंगः ॥ २ ॥

बाक्य तत्संबद्ध अर्थ उद्दीपक है। इन्द्रजालमन्त्रशक्तिको कहते हैं, उसका उदाहरण “व्योमि” इत्यादिश्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि पञ्चाशुग अर्थात् कामदेव जो है सो ही हुआ मायिक अर्थात् मन्त्रशक्तिवाला सो आकाश जो है सो ही हुआ प्रांगणसीमा अर्थात् चतुष्पथ उसमें सन्ध्याकालिक जो किञ्चिद्रक्त किरण सोही हुआ वस्त्रसम्बन्धी अश्वल उसको विस्तीर्ष करिके और अन्धकार जो है सोही हुआ कार्मणपांसु अर्थात् दृष्टिबन्धार्थ विखेरीहुई धूलि तिन करिके त्रिलोकीके नेत्रोंको संमोहित करता हुआ, तारा जो हैं सोही हुवे सींपके मोती जल्को मुखसे बाहर करता है। क्या करिके, विहगसमूहका जो शब्द उसके छलसे जिंझि ऐसा शब्द करिके। यहां कामदेवके मुखसे मौक्तिकका बाहर होना यह बाधित अर्थ है इसलेकु यहां लक्षणसे मन्त्रशक्तिपभावसे लोकको दिखाता हुआ यह अर्थ जानना। यहां अद्भुत रसका आलम्बन तो काम है और उसको इन्द्रजाल उद्दीपन है सो जानना ॥

इति श्रीरसतरङ्गिणीभाषाटीकायां विभावनिरूपणं नाम द्वितीयस्तरंगः ॥ २ ॥

## तृतीयस्तरंगः ३.



अथाऽनुभावा निरूप्यन्ते । ये रसानुभावयन्ति अनुभवोचरतां नयन्ति ते अनुभावाः कटाक्षादयः, करणत्वेनाऽनुभावकता । करणत्वं च फलायोगव्यवच्छेदसम्ब-

अब रससंगतिसे विभावनिरूपणानन्तर अनुभावनिरूपणकी प्रतिज्ञा करते हैं “अथ” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि अथ कहिये विभावनिरूपणानन्तर अनुभाव जे हैं ते निरूपण किये जाते हैं । जो रसोंको अनुभावित करै अर्थात् अनुभवगोचरताको प्राप्त करै वे अनुभाव कहे जाते हैं । जैसे कटाक्षादिक अनुभाव हैं । क्योंकि कटाक्षादि देख करिकै रसका अनुभव अर्थात् अनुमिति लोगोंको होतीहै इस हेतु कटाक्षादिक अनुभाव हैं, अनुभाव शब्दका फलित अर्थ यह है कि जो रसानुमितिका कारण होय सो अनुभाव है । अब यह शंका होती है कि जिस प्रकार कटाक्षादि ज्ञानसे रसकी अनुमिति होती है तिसही प्रकार विभावका ज्ञान होकरिकै रसज्ञानसम्पादनद्वारा स्थायिभावकी अनुमिति होतीहै तो स्थायिभावाऽनुमितिमें कारण विभावभी होताहै तो अनुभावके लक्षणकी विभावमें अतिव्याप्ति हुई इसका समाधान यह है कि यहां जो अनुभवकारणता लेना सो करणत्वं धर्मसे ले तो अभिप्राय यह है कि रसानुभवका जो करण है सो अनुभाव है, ऐसा कहनेसे भी विभावमें अतिव्याप्तिका वारण नहीं होसकैगा, क्योंकि व्यापारखाला जो कारण सोही करण कहाताहै, तो विभावभी रसज्ञानसम्पादनरूप व्यापारखाला है और स्थायिभावाऽनुमितिमें कारणभी है तो विभावकी रसाऽनुभवकरणता होगई इस हेतु करणत्वका दूसरा अर्थ करते हैं “करणत्वं च” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि फलका जो अयोग कहिये अभाव उसको निवृत्त करनेवाला जो कारण होय सो करण है ऐसा हुआ तो कटाक्षादिदर्शनसे उत्तरकालमें स्थायिभावकी अनुमिति नियम करिकै होतीहै, विभावज्ञानसे नियम करिकै स्थायिभावकी अनुमिति नहीं होतीहै किन्तु मध्यमें रसज्ञानसम्पन्न होकरिकै स्थायिभावकी अनुमिति होतीहै और कटाक्षादिका ज्ञान होकरिकै अव्यवहित ही स्थायिभावकी अनुमिति होती है इस हेतु फलके अभावको निवृत्त करनेवाला कारण विभाव नहीं है कटाक्षादि हैं, इससे कटाक्षादिमें लक्षणसम्बन्ध होगया, विभावमें आते-

व्यासिवारण हुआ सो जानना । अब यह शंका हुई कि अनुभाव जो वस्तु है उसके होनेपरभी स्थायिभावानुमितिका कदाचित् अयोगभी होताहै क्योंकि अनुभावका ज्ञानमात्रही स्थायिभावानुमितिमें चरम कारण नहीं है और कारणकी भी स्थिति होती है तब स्थायिभावानुमिति होतीहै इससे यह सम्बन्ध हुआ कि अनुभावके रहनेपरभी कदाचित् फलका अयोग होताहै कदाचित् फल होताहै इसही रीतिसे विभावके रहनेपरभी कोई कालमें फल होगा कोई कालमें नहीं होगा तो विभावमें अतिव्यासि पूर्ववत् स्थित रही । इसका समाधान यह है कि रसानुग्रहण जो स्थायिभावानुमिति अव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्ध करिकै तादृशानुमितिसे उपहित अर्थात् युक्त स्थायिभावनिरूपित व्यासि और पक्षधर्मता इन दोनोंको विषय करनेवाला यद्यस्तुविषयक यथार्थ ज्ञान सामान्य होय वही वस्तु अनुभाव है । ऐसा हुआ तो विचार करिके देखो कि रतिरूप जो स्थायिभाव है उसका साहचर्यनियमरूप जो व्यासि तादृशव्यासियुक्त जो कटाक्षादि उसका नायकनायिकादि आलम्बन विभावरूप जो पक्ष तादृशपक्षवृत्तित्वविषयक जो यथार्थ ज्ञानसामान्य है अर्थात् यावत् यथार्थ ज्ञान है सो सम्पूर्ण शृंगाररसानुग्रहण जो रत्यनुमिति अव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्ध करिके तादृश अनुमितिकरिके युक्त है इस हेतु यच्छब्दवाच्य जो कटाक्षादि सो अनुभाव कहाताहै । ऐसा हुआ तो पूर्व जो आलम्बनविभावमें अतिव्यासिशङ्का हुईथी वह निरस्त हुई क्योंकि रतिरूप स्थायिभावका साहचर्यनियमरूप जो व्यासि (जहां जहां तादात्म्यसम्बन्ध करिके आलम्बन विभाव है तहां तहां विषयतासम्बन्धकरिके रतिरूप स्थायिभाव है यही साहचर्यनियमरूप व्यासि है) सो व्यासि तादात्म्यसम्बन्ध करिके आलम्बनविभावमें बनसकेगी तादृशव्यासिविशिष्ट नायकनायिकादिरूप आलम्बनविभाव होगा । उस आलम्बन विभावको नायकनायिकादिरूप जो पक्ष उसमें वृत्तित्वका यथार्थ ज्ञान होगा । वह ज्ञान रसानुग्रहण जो स्थायिभावानुमिति अव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्ध करिके तादृशानुमितिसे युक्तभी होगा ऐसा होगा तो यच्छब्दवाच्य जो नायकनायिकादिरूप आलम्बनविभाव सो अनुभाव कहाजायगा परन्तु तादात्म्यसम्बन्ध करिके व्यासिका स्वीकार हमारे मतमें नहीं है । ऐसा हुआ तो आलम्बनविभाव स्थायिभाव व्यासिविशिष्ट नहीं होंगे । किर कैसे अनुभावका लक्षण उनमें प्राप्त होगा, अपि तु नहीं होगा, उद्दीपनविभाव जो वस्तुहै उनके पक्षभूत आलम्बनविभावमें रतिरूपस्थायिभावनिरूपित व्यासिविशिष्ट उद्दीपनविभाववस्तुका यथार्थ ज्ञान नहीं होसकेगा इस हेतु उद्दीपनविभावमें अनुभावका लक्षण नहीं प्राप्त होगा । यहां यह शंका हुई कि जहां यह नायक रतिमान नहीं है ऐसा वाधज्ञान है तहां ‘रतिव्याप्यकटाक्षा-

निधत्वम् । ननु रसे कथमनुभावकापेक्षेति चेत् । सत्यम्,  
स्थायीभावः परिपूर्णो रसः, तस्य चान्तरत्वाज्ञापकेन  
विना कर्त ज्ञानमित्यनुभावस्यापेक्षणीयत्वात् ॥

दिमानयम्' ऐसा ज्ञान होगा तोभी रतिकी अनुमिति नहीं होसकेगी तो यह परामर्श अव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्धकरिके अनुमितियुक्त नहीं होगा; इस हेतु कटाक्षरूप अनुभावमें अव्याप्ति होजायगी । इस हेतुका समाधान प्रद है कि अनुभावलक्षणमें तो यथार्थज्ञानप्रद है नहीं यथार्थज्ञानमें प्रतिबन्धकका असमानकालिकत्वविशेषण देना तो प्रकृतमें जो यथार्थज्ञान है सो प्रतिबन्धकसमानकालिक है इस हेतु अनुभावमें अव्याप्ति नहीं होगी । यहां सामान्यपद नहीं देवैं तो स्थायीभावका व्याप्तिपक्षवर्गमताऽन्वगाही जो विभाव अनुभावविषयक समूहालम्बन ज्ञान है वह ज्ञान होगी इस हेतु सामान्यपद दिया तब विभावमें आतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि व्याप्ति पक्षवर्गमतावगाही अनुभावविषयक जो समूहालम्बनभिन्न ज्ञान है वह ज्ञान तो अनुमितियुक्त होगा और विभावविषयक जो समूहालम्बन ज्ञान लिया वहभी अनुमितियुक्त है परन्तु विभावविषयक यथार्थ ज्ञान जितनेमें हैं सो सम्पूर्ण अनुमितियुक्त नहीं हैं कितनेक विभावविषयक ज्ञान तो यथार्थही नहीं होंगे इस हेतु अतिव्याप्ति नहीं होगी सो जानना । यह जो अनुभावका लक्षण कहाँहै सो दोषमहिमाकरिके अपने आत्मामें शकुन्तलाविषयकरतियुक्त दुष्यन्ताऽभेदविषयक काव्यार्थभावनाजन्य विलक्षणविषयताशाही बोध रस है । यह जो वक्ष्यमाण मत उसके अभिप्राय करिके जानना । विशेषवार्ता इस विषयकी जो यहां नहीं कहीहै वह रसनिरूपणप्रकरणमें कहींगे सो जानना । वास्तविक ठीक विचार करें तो अनुशब्दका 'अनु पश्चाद्द्वन्ति' इस व्युत्पत्तिसे रतिसे पीछे जो होय उनको कहना अनुभाव यही अनुभावशब्दका अर्थ होताहै । ऐसा हुआ तो अवच्छेदकतासमवाऽन्यतरसम्बन्धाऽवच्छिन्नाया स्थायीभावनिष्ठा कारणता तनिरूपिता जो समवायसम्बन्धावच्छिन्नाकार्यता तादृशकार्यत्व जो है सोही अनुभावसामान्यलक्षण जानना । नवीन कहतेहैं कि अनुभावव्यवहारविषयत्व अथवा संकेतसम्बन्धकरिके अनुभावपदवत्व यही अनुभाव सामान्यलक्षण है ॥ यहां यह शंका होतीहै कि रसमें अनुभावकी अपेक्षा किस प्रकार है इसका अभिप्राय यह है कि भाव्यमान जो विभाव है उसको ही रसरूपता है इस हेतु वह विभाव प्रत्यक्षसिद्ध है वही अनुभावकी अपेक्षा कोई रीतिसे नहीं होतीहैं यही बात "ननु" इत्यादि ग्रन्थसे

ननु कटाक्षादयः कथमुदीपनविभावा न भवन्ति, हृषे  
कटाक्षादौ कामिनोर्मनोविकारः परिपूर्णो भवति । अनुभव-  
सिद्धत्वेनापहोतुमशक्यत्वात् । किंच, प्राचीनसंमतिरपि-

ईषद्वितपश्मपंक्तिभिरनाकूतस्मितैर्कीक्षितै--

रत्तैरेव तवाद्य सुन्दरि करकोडे जगद्वर्तते ।

अन्तःपांसुलहेमकेतकदलद्रोणी दुरापश्रियो

दोर्मूलस्य विभावनादिषु पुनः कूरे किमाकाङ्क्षसि ॥१॥

कहते हैं । इसका समाधान यह है कि विभाव अनुभाव व्यभिचारिभावसंयोगसे रसनिष्पत्ति होती है इस अर्थको जनानेवाला जो “विभावाऽनुभावव्यभिचारिसंयोग रसनिष्पत्तिः” यह भरतसूत्रहै इसमें मिलित जो तीन उनका उपादान है इस हेतु इन तीनोंमें एकएकको रसत्व नहीं है किन्तु इन तीनोंके संयोगसे रसपदार्थ निष्पत्ति होताहै सो रस आन्तर पदार्थ है इस हेतु उसका प्रत्यक्ष नहीं होसकता है । तब ज्ञापकके बिना उसका ज्ञान किस प्रकार होगा इससे अनुभावकी अपेक्षा अवश्य होगी यही बात “स्थायी भावः परिपूर्णो रसः” इत्यादिग्रन्थसे कहते हैं ॥ अब यहां यह शंका होती है कि चन्द्रादिकी तरह कटाक्षादिको भी मनोविकारकी उत्कर्षकता ‘आदौ रक्ता भवेन्नारी पुमान् पश्चात्तदिङ्गतैः’ इत्यादिवाक्योंसे शृंगारतिलकादि ग्रन्थोंमें कहीहै । और अनुभवसिद्ध भी यह बात है इस हेतु कटाक्षादिको विभाव कहना युक्त है, अनुभाव कहना युक्त नहींहै, यह आशंका “ननु” इत्यादिग्रन्थसे कहते हैं । इसका अर्थ यह है कि कटाक्षादि जे हैं त उदीपनविभाव क्यों नहीं होते हैं क्योंकि कटाक्षादिका दर्शन होनेपर नायिकनायिकाका मनोविकार परिपूर्ण होताहै यह बात अनुभवसिद्ध है इस हेतु इसका अपहव करनेको शक्य नहीं है । अपने अनुभवको प्राचीन विद्वानोंके अनुभव संवादके साथ प्रमाणयुक्त करते हैं । “किञ्च” इत्यादि वाक्यसे । क्षोकार्थ यह है कि नायिकाके प्रति सखीका वाक्य है कि हे सुन्दरि ! किञ्चित् चलित जो नेत्रपत्र उनकी श्रीकरिकै युक्त और बिना अभिप्राय करिकै जो स्मित उससे युक्त जो वीक्षण (देखना) इन वीक्षणोंही करिकै तेरे हस्तपञ्चरमें जगत्के रसिक जन स्थित होरहेहैं अर्थात् सम्पूर्ण पुरुष तेरे अधीन होरहेहैं । हे कूरे ! अर्थात् किञ्चित्कालके वियोगमात्र करिकै ही आते संताप देनेवाली ? इस संसारमें बाहुमूलके विभावन अर्थात् वारंवारं देखनेसे क्या आकाङ्क्षा करती है अर्थात् क्या चाहती है ।

इत्यादय इति चेत् । सत्यम्, कटाक्षादीनां करणत्वेनानु-  
भावकत्वम्, विषयत्वेनोद्दीपनविभावत्वम्, तथा चात्मनि  
रसाऽनुभवकरणत्वेन नायकं प्रति कटाक्षादयोऽनुभावाः ।  
ते च दृष्टिगोचरीभूताः कामिनोर्मनोविकारं कारयन्तो विष-  
यत्वेनोद्दीपनविभावा इति ॥

स चानुभावः कायिकमानसाहार्यसात्त्वकभेदाच्चतुर्धा ॥  
कायिका भुजक्षेपादयः, मानसाः प्रमोदादयः, नाट्ये  
चतुर्भुजत्वज्ञानादय आहार्याः, सात्त्विका रोमाञ्चादयः ॥  
अथ शृङ्गारस्याऽनुभावाः । तत्र भरतः-

कैसा है बाहुमूल कि भीतर पांसुल अर्थात् धूलिधूसर ऐसा जो हेमकेतक उसकी जो दलद्रोणी अर्थात् पत्रोंका गुच्छ तपकरिकै नहीं प्राप्त होनेके योग्य है शोभा जिसकी ऐसा । इस प्राचीन लेखसे कटाक्षादिको भी उद्दीपनविभावता दिखाई सो क्यों नहीं कही इसका समाधान “कटाक्षादीनाम्” इत्यादि ग्रन्थसे कहते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि कामी और कामिनीका जो मनोविकार उसका व्यधिकरण होकरिकै परिपोषकता रहनेसे उद्दीपन विभावरूप भी जो कटाक्षादि हैं, तिनको रतिरूप स्थायिभावका व्याप्ति और पक्षवृत्तित्व दोनों विषयक जो ज्ञान तादृश ज्ञानविषयत्वरूप करणत्व होनेसे अनुभावकता भी होसकती है और प्रकर्षयुक्त रसजनकज्ञानविषयत्व होनेसे उद्दीपन विभावत्व भी होसकताहै ।

अब अनुभावका विभाग “स च ” इत्यादि ग्रन्थसे कहते हैं । इसका यह अर्थ है कि वह अनुभाव चार प्रकारका है—एक कायिक, दूसरा मानस, तीसरा आहार्य, चौथा सात्त्विक । तहाँ भुजक्षेपादि तो कायिक अनुभाव हैं और प्रमोदादि मानस अनुभाव हैं और नाट्यमें जो चतुर्भुजत्वका आरोप होताहै वह आहार्य अनुभाव है और रोमाञ्चादि सात्त्विक अनुभाव हैं ॥ अब शृङ्गारके अनुभाव कहते हैं “अथ ” इत्यादि वाक्यसे । तहाँ भरतसम्मति दिखाते हैं “ तत्र ” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि नेत्रके और मुखके जो प्रसाद तिनकरिकै और स्पिति और मधुर वचन और प्रमोद इनसे और विविध जो अंगविकार अर्थात् त्रुम्बनयाचनावोधक जो ओष्ठपुट्टकुञ्चनादि और सात्त्विकभाव इनसे शृङ्गार रसका अभिनय अर्थात् तद्राधिका चेष्टा प्रयोग करनेके योग्य है । कटाक्ष और भुजक्षेपादिका ऊह कर लेना ।

नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचनप्रमोदैश्च ।  
 विविधैरङ्गविकारैस्तस्याऽभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ २ ॥  
 कटाक्षभुजक्षेपादय ऊहनीयाः । यथा—  
 मुक्ताहारः स्तनकलशयोः कर्णयोः कर्णिकारं  
 मौलौ माला परिभवभयादेव दूरे न्यवारि ।  
 द्वष्टेऽभीष्टे समजनि पुनः सुभुवो भूषणाय  
 प्रातर्वातोत्तरलक्मलद्रोहदक्षः कटाक्षः ॥ ३ ॥  
 अथ हास्यस्याऽनुभावाः । तत्र भरतः—  
 विकृताकारैर्वाक्यैरङ्गविकारैर्विकृतविषेशैश्च ।  
 हास्यं जनयेद्यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः ॥ ४ ॥  
 आस्याधरविवरणदशनदर्शननासाकपोलस्पन्ददृष्टिव्या-  
 कुञ्चनादय ऊहनीयाः । यथा—

अब श्रृंगाररसके अनुभावका उदाहरण “ मुक्ताहारः ” इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि सखीके प्रति सखीका वचन है कि सूर्योदयकालिक और वात-करिकै चश्चल ऐसा जो कमल उसके द्रोहमें चतुर अर्थात् उस कमलके सदृश जो कटाक्ष है सोही प्रियतमका दर्शन होनेपर सुन्दर है भुकुटी जिसकी ऐसी जो नायिका उसका भूषण अर्थात् सर्वातिशयको धारण करनेके अर्थ पैदाहुआ कटाक्ष-ही भूषणके अर्थ हुआ । और अलंकरण क्यों नहीं हुआ इस अपेक्षासे कहतेहैं कि स्तनरूप जो कलश उनमें जो मुक्ताहार सो और कानोंमें जो कर्णिका अर्थात् पुष्प है सो और केशाशामें जो माला है सो परिभवभय अर्थात् मालिन्य संभावना-के उद्देश्यसे दूर त्याग की गई, यहाँ नायकविषयक जो नायिकाको रति है उसका कटाक्ष अनुभाव है ।

अब हास्य रसके अनुभाव कहतेहैं । तहाँ भरतसम्मति दिखातेहैं “ तत्र ” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि हास्य अर्थात् मुखविकासको जिस हेतुसे उत्पन्न कराताहै तिस हेतुसे रस जो है सो हास्यपदवाच्य कहाताहै सो रस विकृताकार वाक्योंसे अर्थात् छुसगद्दाक्षर वाक्योंसे और अंगविकार अर्थात् शैथिल्यादिसे और विकृत वेष अर्थात् बदनरक्ततादिसे ज्ञेय अर्थात् अनुमान करनेके योग्य है, मुख और ओष्ठ अधर दोनोंका जो विवरण अर्थात् चालन और दन्तका

तृतीयः ३.]

## भाषाटीकासहिता ।

( ५१ )

पात्रीकृत्य कपालमण्डलमिदं पीयूषभानोः कला  
 वर्तीकृत्य फणामणि फणिपतेः सम्पाद्य तस्यां शिखाम् ।  
 सायं दीपविधिं वितन्वति शिशौ मन्दं हसन्त्या तया  
 किञ्चित्कुञ्चिदपांगभंगकुटिला दृष्टिः समारोपिता ॥ ६ ॥  
 अथ करुणाऽनुभावाः । तत्र भरतः—  
 निःश्वसितेन च रुदितैर्मोहागमनपरिदेवनैश्चैव ।  
 अभिनेयः करुणरसो देहाघातादिभिश्चैव ॥ ६ ॥  
 मुखशोषप्रलापवैवर्ण्यादय ऊहनीयाः । यथा—  
 ताते निर्गच्छति गणपतौ नाकमद्याऽपि तस्या  
 वाचां देव्यास्त्यजति शिथिलं कङ्कणं नैव दोष्णोः ।  
 अद्याप्याद्रीभवति कुचयोर्नैव पाटीरपंको  
 नेत्रे निर्यत्पयसि न पुनः कज्जलं स्थैर्यमेति ॥ ७ ॥

दर्शन और नासा और कपोलका किञ्चिच्चलन और दृष्टिका व्याकुञ्चन अर्थात् संकोच इत्यादिका भी ऊह करलेना । अब हास्यरसके अनुभावका उदाहरण “पात्रीकृत्य” इत्यादि क्षोकसे कहते हैं । क्षोकार्थ यह है कि, किसी रुद्रगणकी यह उक्ति है कि मन्द कहिये ईषत् हँसती हुई जो पार्वती उसने शिशु जो गणेश वा स्वामिकार्तिक उसमें किञ्चित् कुञ्चित् अर्थात् ईषन्निमीलित जो नयनप्रान्त उसका जो भंग कहिये रचना उस करिके कुटिला व्यर्थात् वक्रा जो दृष्टि सो आरोपित अर्थात् स्थापित की । कैसा है शिशु सो कहते हैं कि, मण्डलाकार जो कपाल उसको पात्र बना करिकै उस पात्रमें चन्द्रकलाको बत्ती बना करिकै फणिपति अर्थात् शेषनागकी फणामणिको उस बत्तीमें शिखा सम्पादन करिकै दीपविधिको विस्तारित करे ऐसा । यहां पार्वतीनिष्ठ जो हास्य उसका अनुभाव कुटिला दृष्टि है सो जानना ॥

अब करुण रसके अनुभाव कहते हैं । तहां भरतसम्मति दिखाते हैं—“निःश्वसितेन” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि निःश्वाससे और रोदनोंसे और मोहागमन और दुःख कथा इनसे और देहताडनादिसे करुण रस जो है सो अभिनेय अर्थात् जनाने योग्य है । और मुखशोषण और प्रलाप और विवर्णता इत्यादिका भी ऊह करलेना इसका उदाहरण “ ताते निर्गच्छति ” इत्यादि क्षोकसे कहते हैं ।

अथ रौद्ररसस्याऽनुभावाः । तत्र भरतः-

नानाप्रहरणसंकुलशिरसः कम्पैः करायनिष्ठेषैः ।

घोरैर्थविशेषैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ८ ॥

भुकुटीदन्तौष्टपीडनादय ऊहनीयाः । यथा-

येये भीमेन बद्धभुकुटिवनरवं दन्तनिष्ठीडितोष्टं

विक्षिता व्योम्नि विन्ध्याचलचटुलचमत्कारभाजः करीन्द्राः ।

तेषामेषा कपोलादिव भयविधुता काचिदुद्धीय लग्ना

विम्बे पीयूषभानोर्मधुकरपटली लाञ्छनस्यच्छ्लेन ॥ ९ ॥

अथ वीरस्याऽनुभावाः । तत्र भरतः-

**क्षोकार्थ** यह है कि भानु कविका पिता जो गणपति सो स्वर्गको प्राप्त होतसन्ते उनकी जो सरस्वती देवी उसकी पीडा कहते हैं कि कविताको करनेवाला मैं हूं तो भी हमारे पिता जो गणपति मिश्र सो स्वर्गको जातसन्ते अबतक भी उनकी जो वाग्देवी है उसका दोनों बाहुका जो कंकण है सो शिथिलताको नहीं त्याग करता है और आज भी गणपतिमिश्रके वियोगसे जो सन्ताप ताकरिके दोनों स्तनोंमें जो चन्दनका पंक सो आला नहीं होता है किन्तु शुष्कही रहता है । और निकलता है अश्रु जिससे ऐसे जो नेत्र उनमें कजल स्थिरताको प्राप्त नहीं होता है, किन्तु वहताही जाता है । यहां गणपतिमिश्रालंबनक जो सरस्वतीनिष्ठ करुणा रस उसका अभिव्यक्त जो निःश्वासरोदनादि सो अनुभावक है ।

अब रौद्ररसके अनुभाव कहते हैं । तहां भरतसम्मति दिखाते हैं । “नानाप्रहरण” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि नानाप्रहरणसे व्याकुल जो शिर उसके कम्पोंसे और हस्ताग्रका जो मसलना उनसे और घोर जो अर्थविशेष अर्थात् नहीं देखनेके लायक कर्म विशेष इनसे रौद्रका अभिनय प्रयोक्तव्य है । और भुकुटी और दन्त, ओष्टका पीडन इत्यादिका भी ऊह करदेना । इसका उदाहरण—“येये” इत्यादि क्षोकसे कहते हैं । क्षोकार्थ यह है कि भीमसेनने बांधीहैं भुकुटि जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और घोर है शब्द जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और दन्तकरिक :निष्ठीडित है ओष्ट जिस क्रियामें जैसे होय तैसे आकशमें जो जो हाथी फैके उनके कपोलसे भययुक्त ही करिकेही मानो उडकरिके यह मधुकरपटली अर्थात् भ्रमरोंका समूह जो है सो लाञ्छनके छलसे चन्द्रमण्डलमें लग गया है । कैसे हैं हस्ती कि विन्ध्याचलका जो चटुल चमत्कार

शौर्येध्येवीर्येहुत्साहपराकमप्रभावैश्च ।

वाक्यैराक्षेपकृतैर्विरसः सम्यग्भिनेयः ॥ १० ॥

विजयबलादय ऊहनीयाः ॥ नन्वतीन्द्रियस्य रसस्य ज्ञापकाः शरीरधर्मा भवितुमर्हन्ति त एव सर्वत्रोक्ताः । तथा च धैर्योत्साहौ न शरीरधर्माविति चेत् । सत्यम्, धैर्यपदेन चाच्चाल्याभाव उत्साहपदेन चाश्रुपातादयो विवक्षिताः । यद्वा—अनुभावश्रुतुर्विधः, तत्र मानसोऽप्यनुभाव उक्तः । तत्स्य च ज्ञानमेवाऽनुभावकम् । तज्च मानसमैन्द्रियकं वेति न विशेषः ॥ युद्धवीरस्याऽनुभावो । यथा—

अग्रे वासवजित्समग्रसमरव्यापारदीक्षागुरुः

पार्थे तस्य विपक्षपक्षदमनक्रीडाधनो रावणः ।

इत्थं जल्पति सर्वतः परिजने सन्ध्यास्मृतिं कुर्वतः

श्रीरामस्य न कुम्भकस्य पवने क्षुण्णः स कोऽपि क्रमः ॥ ११

सो है जिनके ऐसे । यहां भीमनिष्ठ जो दुर्योधनालम्बनक रौद्र तिसका दुर्निरीकृत कर्म जो इस्तीका फैकना तथा ओष्ठपीडनादि अनुभव है ।

अब वीर रसके अनुभाव कहते हैं तदां भरतसम्मति दिखाते हैं “शौर्यः” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि शूरताओंसे और धैर्योंसे और वीरोंसे और उत्साह और पराक्रम और प्रभाव इनसे और आक्षेपकृत वाक्योंसे वीर रस सम्यक्प्रकारसे अभिनय करने योग्य है । यहां वीर्य बलविशेषको कहते हैं, पराक्रम परवन्धनादिको कहते हैं, और प्रभाव मारणादिको कहते हैं, आक्षेप तिरस्कारको कहते हैं, और विजयका बल इत्यादिका भी ऊह करलेना । अब यहां यह शंका होती है कि अप्रत्यक्ष रसके जनानेवाले शरीरके धर्म होनेके योग्य हैं । और सो ही सब जगह कहे हैं ऐसा हुआ तो धैर्य और उत्साह यह दोनों शरीरधर्म नहीं हैं फिर यह अनुभाव अर्थात् अनुभावक किस प्रकार होगा । इसका समाधान यह है कि यहां धैर्य शब्दकारिकै चश्चलताका अभाव कहते हैं और उत्साह शब्दकारिके अश्रुपातादि कहते हैं । ये दोनों शरीरधर्म ही हैं इस हेतु अनुभाव होसकेंगे । अथवा अनुभाव चार प्रकारका पूर्व कहा है तदां मानस भी अनुभाव कहा है । उसका ज्ञानही अनुभावक है सो ज्ञान मानस होय अथवा ऐन्द्रियक अर्थात् प्रत्यक्ष होय इसमें कुछ विशेष नहीं है । इस हेतु आन्तरभी अनुभाव होते हैं ॥ अब युद्धवीराऽनुभावका उदाहरण—“अग्रे वासवजित्” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह

दयावीरस्याऽनुभावो यथा-

ध्वान्तस्तोमधरे जगद्वयकरे पाथोधरे वर्षति

क्रोडव्याकुलवत्सगोकुलदयादीनेक्षणः केशवः ।

हस्तन्यस्तमहीधरच्युतिभिया नैवांगुलीपल्लवै-

वेणुं स्वस्तमुरीकरोति न तनोः स्वस्तं हरत्यंशुकम् ॥ १२ ॥

दानवीरस्याऽनुभावो यथा-

ओदास्यं न विधेहि गच्छ न गृहात्संवीक्ष्य मृद्गाजनं

याचे किन्तु भवन्तमेतदखिलं कौत्स क्षणं क्षम्यताम् ।

है कि राम रावणके युद्धसमयमें कपिदल कहताहै कि सम्पूर्ण जो संग्रामका व्यापार उसकी दीक्षामें गुरु ऐसा जो इन्द्रजित् सो आगे है अर्थात् सेनापति होरहाहै । और उस इन्द्रजित्के समीपमें रावण है । कैसा है रावण कि शत्रुका जो पक्ष उसका जो पराभव अर्थात् खण्डन सो ही है क्रीडा सो ही है धन जिसको ऐसा । इस प्रकार चारां दिशाओंमें परिजन जो बानरसमुदाय सो बोलतसंते सन्ध्यास्मरणको करतेहुए ऐसे जो रामचन्द्र उनका जो यह कुम्भकके वायुकम अर्थात् पहले पूरक प्राणायाम और पीछे कुंभक और पीछे रेचक यह जो कम सो बिंगड़ा नहीं । यहां रावणालंबनक जो रामका वीर रस उसका चाढ़ल्याभावरूप धैर्य अनुभावक है । दयावीरके अनुभावका उदाहरण कहतेहैं “ध्वान्त” इत्यादि इलोकसे इलोकार्थ यह है कि अन्धकारके समुदायको धारनेवाला और जगत्को भय करनेवाला ऐसा जो मेघ सो वरसत सन्ते दोनों भुजाओंके अन्तरमें व्याकुल ऐसे जो वत्स और गोसमूह उनमें जो दया उससे दीन है हाषि जिसकी ऐसा जो केशव सो हस्तमें धारित जो गोवर्धन पर्वत उसके पडनेके भयसे पडता हुआ जो वेणु उसको अंगुलिपल्लवोंसे नहीं धारण करताहै और शरीरसे पडता हुआ जो वस्त्र उसकोभी नहीं धारण करताहै । यहां गोकुलालंबन जो केशवका दयावीर रस उसका अनुभाव धैर्य है ॥

अब दानवीराऽनुभावका उदाहरण “ओदास्यम्” इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि हे कौत्स! मृत्तिकाके पात्रको देखकरिके उदासताको मत करो । और घरसे मत जाओ। यह सब बात आप क्षमा करो अर्थात् इसका विचार मत करो । मैं आपको यही याचना करताहूँ कि क्षणमात्र क्षमा करो जो दास गुरुदक्षिणा है तब तो मैं हूँ और जो पृथ्वी गुरुदक्षिणा है तो सम्पूर्ण लेलीजिये और जो स्वर्ण गुरुदक्षिणा है तो कुबेरसे लाकर सम्पादन कियाजात है। यहां कौत्सालंबनक रघुनिष्ठ दान वीरका वसुमती इत्यादिका जो दान है सो अनुभाव है ॥ अब भयानकके अनुभाव

तृतीयः ३. ]

## भाषाटीकासहिता ।

( ९९ )

दासश्वेदहमस्मि चेद्वसुमती सर्वैव संगृह्यतां  
 स्वर्णं चद्रुदक्षिणा धनपतेरानीय सम्पाद्यते ॥ १३ ॥

अथ भयानकस्याऽनुभावाः । तत्र भरतः—  
 करचरणनेत्रमस्तकसर्वांगानां प्रकम्पनैश्चव ।

शुष्कोष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ॥ १४ ॥

रोमाञ्चवदनवैवर्ण्यस्वरभेदादय ऊहनीयाः । यथा—  
 न्यस्तव्यस्ततृणावलीढवदनव्याकीर्णफेनोच्चयं  
 काकुव्याकुलघोरघर्घररवं स्फारीभवल्लोचनम् ।

कम्पप्रस्खलदंग्रिवामनतनुशासोर्मिनुन्नाधरं  
 विस्तीर्णे भुजगस्य वक्रकुहरे कृष्णस्य गावः स्थिताः ॥ १५ ॥

अथ बीभत्साऽनुभावाः । तत्र भरतः—  
 आनननेत्रविघूर्णननासास्यच्छादनैश्चैव ।

कहते हैं । तहां भरतसम्मति दिखाते हैं “करचरण” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि हस्त, पद, नेत्र, मस्तक यह हैं प्रधान जिनमें ऐसे जो संपूर्ण अंग उनके प्रकम्पनोंसे और ओष्ठ, तालु, कण्ठ इनके शोषणकरिके भयानकरस नित्य अभिनव करने योग्य है । और रोमाञ्च, मुखकी विवर्णता, स्वरका भेदे इत्यादिका भी ऊह करलेना । इसका उदाहरण “न्यस्तव्यस्त” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि कृष्णके गौ जे हैं ते विस्तारयुक्त जो व्यालराक्षसका वक्रकुहर अर्थात् मुखबिल उसमें स्थित होगये । किस प्रकार, सो कहते हैं कि न्यस्त कहिये गलित और व्यस्त कहिये खण्डित ऐसे जो त्रुण तिनकरिके युक्त जो मुख उसमें व्याकीर्ण कहिये व्याप्त है फेनसमूह जिसक्रियामें जैसे होय तैसे । और काकु जो स्वरविशेष उससे व्याकुल अर्थात् व्याप्त और घोर और घर्घरानुकरणयुक्त है शब्द जिसक्रियामें जैसे होय तैसे । और विस्तारयुक्त है लोचन जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और कंपकरिके गिरताहुआ है चरण जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और वामन है तनु जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और श्वासकी जो परंपरा ताकरिके कंपायमान है अधर जिस क्रियामें जैसे होय तैसे । यहां व्यालराक्षसालम्बनक गोनिष्ठ जो भय उसका कम्पादिक अनुभाव है ॥

अब बीभत्स रसके अनुभाव कहते हैं । तहां भरतसम्मति दिखाते हैं “आनननेत्रविघूर्णन” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि मुखका और नेत्रका जो धुमाना और नासिका और मुखका आच्छादन इनसे और अव्यक्त

अव्यक्तपादपतनैर्बीभत्सः सम्यग्भिनेयः ॥ १६ ॥

सर्वांगसंहारष्ट्रीवनादय ऊहनीयाः । यथा-

कपटहरे मुखकुहरे विकृते संवीक्ष्य दिनकरं लक्ष्मीः ।

हतदैत्यपललकवलभ्रान्त्या मुखमंशुकैः पिदधे ॥ १७ ॥

अथाऽनुतरसाऽनुभावाः । तत्र भरतः-

करस्पर्शग्रहणोल्लासैहाहाकारैश्च साधुवादैश्च ।

वेपथुगद्गदवचनैः स्वरभेदैरभिनयस्तस्य ॥ १८ ॥

निर्निमेषप्रेक्षणरोमाञ्चादय ऊहनीयाः । यथा-

पाण्डवं वीक्ष्य दोर्दण्डखण्डितारातिमण्डलम् ।

अद्याऽपि नाकिनां नेत्रे निमेषा नैव जाग्रति ॥ १९ ॥

इति श्रीभानु० रसतरंगिण्यामनुभावनिरूपणं नाम तृतीयस्तरंगः ॥ ३ ॥

पादपतन अर्थात् स्तंभनसे बीभत्स रस सम्यक् अभिनेय है अर्थात् जाननेयोग्य है । संपूर्ण अंगका रामेटना और थूकना इत्यादिका भी ऊह करदेना । इसका उदाहरण “कपटहरेः” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि लक्ष्मी जो है सो मायावी श्रीकृष्णके मुखच्छिद्रमें सूर्यको देखकरिके मराहुआ जो दैत्य उसके मांसके ग्रासकी भ्रान्तिसे वस्त्रोंसे मुखको आच्छादित करती भई । यहां लक्ष्मीनिष्ठ हत-दैत्यमांसालंबनक जो बीभत्स उसका अनुभाव मुखका ढकना है । अब अनुत रसके अनुभाव कहते हैं, तहां भरतसम्मति दिखाते हैं—“करस्पर्श-ग्रहण” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि स्पर्श करिके और ग्रहण करिके और उसका अर्थात् हर्षजनित चित्तविकास करिके और आश्र्यसूचक हाहाकार शब्दोंसे आर साधवादोंसे और वेपथु अर्थात् कंपकरिके और गद्गदवचन करिके और उदात्तादिस्वरभेदोंकीरेक अनुतरसको जानना । और निमेषरहित होकर झांकना, रोमाञ्च इत्यादिका भी ऊह करलेना । इसका उदाहरण “पाण्डवं वीक्ष्य” इत्यादि श्लोकस कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि कृष्णके प्रति सात्यकि कहता है कि बाहुदण्डसे खण्डित कियाहै शत्रुमण्डल जिसने ऐसा जो पाण्डव अर्जुन उसको देखकरिके देवताओंके नेत्रोंमें अब भी निमेष नहीं जागते हैं, इसका अभिप्राय यह है कि हठ जो निर्निमेषप्रेक्षण उसके अभ्यास करिके अब भी निमेष नहीं उत्पन्न होते हैं । यहां पाण्डवालंबनक देवतानिष्ठ अनुत रसको निर्निमेषप्रेक्षण अनुभाव है सो जानना ॥

इति श्रीरसतरङ्गिणीमाषाठीकायामनुभावितनिरूपणं नाम तृतीयस्तरङ्गः ॥ ३ ॥

## चतुर्थस्तरंगः ४.

अथ सात्त्विकभावा निरूप्यन्ते । तत्र भरतः—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः ॥

वैवर्ण्यमशुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः ॥ १ ॥

नन्वस्य सात्त्विकत्वं कथम्, व्यभिचारित्वं न कुतः,  
सकलरससाधारण्यादिति चेत् । अत्रकेचित्, सत्त्वं नाम  
परगतदुःखभावनायामत्यन्ताऽनुकूलत्वम्, तेन सत्त्वेन धृताः  
सात्त्विका इति व्यभिचारित्वमनाहृत्य सात्त्विकव्यपदेश  
इति। तत्र, निर्वेदस्मृतिप्रभृतीनामपि सात्त्विकव्यपदेशापत्तेः ।  
न च परदुःखभावनायामष्टावेते समुत्पद्यन्त इत्यनुकूल-  
शब्दार्थः । अत एव सात्त्विकत्वमप्येतेषामिति वाच्यम् ।  
निर्वेदादेरपि परदुःखभावनायामप्युत्पत्तेरिति ।

अब अवसरसंगति करिके शारीरभावनिरूपणकी प्रतिज्ञा करते हैं । “अथ” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि अनुभावनिरूपणानन्तर सात्त्विक भाव निरूपण करते हैं । यहाँ सात्त्विकभावशब्दका यौगिक अर्थ ऐसा नहीं है जो आपत्ति न लगे और रूढचर्यका निर्धारण है नहीं इस हेतु सात्त्विक भावोंका नाम कहते हैं “तत्र भरतः” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि स्तम्भादिक आठ सात्त्विक भाव हैं । यहाँ यह शंका हुई कि इन आठ भावोंको सात्त्विकत्व किस प्रकार कहते हो । यह कहनेका यह अभिप्राय है कि सत्त्व जीवका नाम है उसके आश्रित जो होय सो ही सात्त्विक कहाता है, इसहीसे इसमें सात्त्विकव्यवहार करते हो । सो यह कहना युक्त नहीं । क्योंकि व्यभिचारिभावको भी जीवाश्रितत्व है । वह भी सात्त्विक कहावैगा सो अभिमत नहीं है । फिर यही आठ क्यों सात्त्विक कहाते हैं इसका हेतु कहो । और विचार करो तो इन आठोंहीके । व्यभिचारिभावका जो लक्षण है सकलरसगामित्व सो है, तो इनको व्यभिचारिभाव कहना चाहिये सात्त्विक नहीं कहना चाहिये । इसका समाधान कोई इस प्रकार करते हैं कि सत्त्वशब्दार्थ यद्य है परको जो हुःख उसके विचारमें अत्यन्त अनुकू-

अत्रेदं प्रतिभाति-सत्त्वशब्दस्य प्राणिवाचकत्वादत्र  
सत्त्वं जीवशरीरम् । तस्य धर्माः सात्त्विकाः । इत्थं च शारी-  
रभावाः स्तम्भादयः सात्त्विका भावा इत्यभिधीयन्ते ।  
स्थायिनो व्यभिचारिणश्च भावा आन्तरतया न शरीर-  
धर्मा इति ॥

**शरीरधर्मत्वे सति गतिनिरोधः स्तम्भः । न च निद्राड-**

लता उस सत्त्व कारिके जो धृत हैं वे सात्त्विक कहाते हैं । यह जो अनुकूलता रूप सत्त्व है सो आठहीमें है इस हेतु इन आठहीमें सात्त्विकपद प्रयोग होगा । व्यभिचारिभावमें यह अनुकूलता नहीं है इस हेतु वहां सात्त्विकपद प्रयोग नहीं होगा । यह मत समीचीन नहीं क्योंकि निर्वेदादिमें नहीं रहे आर स्तंभादिमें ही रह ऐसी अनुकूलता माननेमें कुछ घ्रणाण नहीं इस हेतु निर्वेदादिमें भी ऐसी अनुकूलता रहेगी । यह कहनेका यह अभिप्राय है कि परगतदुःखभावनामें अनुकूलतावस्तु उत्पत्तिरूपही होगी । सो उत्पत्ति निर्वेदादिमें भी है ही तो निर्वेदादिको भी सात्त्विक कहना चाहिये यहां किसीको ऐसा वैमत्य है कि परगतदुःखभावनामें इन आठहीकी उत्पत्ति होती है इस हेतु ये आठही सात्त्विक कहावेंगे । यह वैमत्य युक्त नहीं क्योंकि निर्वेदादिकी भी पादुःखके विचारमें उत्पत्ति होती है तो उनमें भी सात्त्विकत्वव्यवहार होना चाहिये सो जानना ॥

अब समाधान “अत्रेदम्” इत्यादि ग्रन्थसे करते हैं । इस ग्रन्थका यह अभिप्राय है कि हमको यहां यह दीखताहै कि सत्त्वशब्द प्राणिवाचक है इस हेतु यहां सत्त्वशब्द जीवयुक्त शरीरका नाम है उसके धर्मको सात्त्विक कहते हैं । ऐसा हुआ तो शारीरभाव जो स्तंभादि सो सात्त्विकभाव कहाते हैं । तो सात्त्विकभावका यह लक्षण फलित हुआ कि शारीरत्व होतसन्तैं स्थायिभावप्रकारक आरोपविषयभूत भावत्व । यहां विशेषण जो है शारीरत्व सो न दें तो व्यभिचारिभाव और स्थायिभाव ये दोनों भाव हैं तो ये भी सात्त्विकभाव कहेजायेंगे । और व्यभिचारिभावमें विचार करनेसे स्थायिभावप्रकारकआरोपविशेष्य जो भाव तादृशभावत्व है तो अतिव्याप्ति होगी इस हेतु ‘शारीरत्वे सति’ यह विशेषण दिया । तो व्यभिचारिभाव वा स्थायिभावको शारीरत्व नहीं है इस हेतु सात्त्विकभावलक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं होगी सो जानना ॥

अब सात्त्विकभावोंका सामान्यलक्षण कहकर स्तंभका लक्षण कहते हैं “शारीरधर्मत्वे सति” इत्यादिग्रन्थसे । इसका यह अर्थ है कि शारीरधर्मत्व होतसन्तैं गति-

इपस्मारादावतिव्याप्तिः, शरीरधर्मपदेन व्यावर्तनात् । प्रल-  
यभाने तु चेष्टानिरोधो न तु गतिनिरोधः । तस्य विभा-  
वा हर्षरागभयदुःखविषादविस्मयकोधाः । यथा—  
श्रोणी पीनतरा तनुः कृशतरा भूमीधरात्पीवरा  
वक्षोजस्य तटी कुतो निजकुटी मातर्मया गम्यताम् ।  
इत्युद्धाव्य कदम्बकुञ्जनिकटे निर्विश्य मन्दस्मितं  
गोविन्दं समुदीक्ष्य पक्षमलहशा स्तम्भस्तिरोधीयते ॥ २ ॥

सामान्यका जो निरोध अर्थात् रुकना जो है सो स्तंभ है। यहां शारीरत्व विशेषण न दूर निद्रा और अपस्मार यहां अतिव्याप्ति होगी क्योंकि इस अवस्थामें भी गतिसामान्यका निरोध रहता है। इस हेतु शारीरत्वविशेषण दिया। सामान्यपद न दें तो प्रलयभावमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि प्रलय भावको शारीरत्व है उस अवस्थामें चेष्टारूप गतिका निरोध भी रहता है। इस हेतु सामान्य पद दिया। अब प्रलयभावमें अतिव्याप्ति नहीं होती है, क्योंकि इस अवस्थामें चेष्टाका निरोध है तो भी गतिका निरोध नहीं है। इससे गतिसामान्यनिरोध वहां नहीं रहा सो जानना। इस स्तंभके विभाव अर्थात् उत्पादक हर्षादि हैं। इसका उदाहरण “‘श्रोणी’” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि सखिके प्रति सखीका वाक्य है कि हे माता! मेरा जो कटिपश्चाद्ग अर्थात् नितंब सो पुष्टर है। और शरीर जो है सो अत्यन्त कृश है। और स्तनतट जो है सो पर्वतसे भी पुष्ट है। इस हेतु मैंने अपना गृह किस प्रकार जाया जायगा अर्थात् मैं किस प्रकार जाऊं, भारसे चलनेमें समर्थ नहीं हूं। यह कहकरिके कदंवसंबन्धी कुञ्जके समीपमें विश्राम लेकरिकै मन्द है स्मित जिस क्रियामें जैसे होय तैसे कृष्णको देखकरिकै अर्थात् कटाक्षसहित निरीक्षण करिकै रमणीय जो पक्षम ( बाँफणी ) तत्संबन्धिनी है दृष्टि जिसकी ऐसी नायिकासे उत्पन्न हुआ जो स्तंभ सो तिरोहित किया गया। यहां ‘मातः’ यह जो सखीके प्रति सम्बोधन है सो साऽनुकम्पा उक्ति है, यह उक्ति अप्रतारणाकी व्यञ्जक है सो जानना और वक्षोजस्यमें जो एक वचन दिया उससे स्तनके भेद ज्ञानमें प्रतिबन्धक जो अत्यन्त संश्लेष सो व्यञ्जित हुआ। यहां कृष्णदर्शनसे जो स्तम्भ उसका कारण हर्षरागादि हैं, सो जानना।

वपुषि सलिलोद्ग्रमः स्वेदः । अस्य विभावा मनस्तापहर्षल-  
ज्ञाकोधभयश्रमपीडाघातमूच्छ्णाः । यथा-  
कान्ते तव कुचप्रान्ते राजन्ते स्वेदबिन्दवः ।  
हृष्यता मदनेनेव कृताः कुसुमवृष्टयः ॥ ३ ॥  
विकारसमुत्थरोमोत्थानं रोमाश्चः । अस्य विभावाः शी-  
तालिंगनहर्षभयकोधाः । यथा-  
बकुलमुकुलकोषरोषनिर्यन्मधुकरकूजितभाजि कुञ्जभूमौ ।  
पुलकयति कपोलपालिमालि ! स्मितसुभगः कथमव्य  
नन्दसूनुः ॥ ४ ॥

अब स्वेदका लक्षण कहते हैं “ वपुषि ” इत्यादि वाक्यसे वाक्यार्थ यह है कि शरीरमें जो जलका प्रादुर्भाव उसको स्वेद कहते हैं । नारिकेलमें भी जल होता है वह जल स्वेद नहीं है । यह अतिव्याप्तिवारणार्थ वपुषि यह विशेषण दिया । यहां शरीर करिके नेत्रभिन्न शरीरका अवयव समझना इस हेतु अश्रुपातमें अतिव्याप्ति नहीं होगी । ऐसा कहनेपरभी श्रमजनित स्वेदमें सात्त्विक व्यवहार नहीं होता है सो होजायगा । इस हेतु वह स्वेद विकारसम्भूत समझना चाहिये । इस हेतु उद्गमः यहां उत् यह उपसर्गपद दिया । अभिप्राय यह है कि परस्पराऽनुरागातिशय होतसन्देश जो शरीरमें सलिलोद्ग्रम सो स्वेद है, सो जानना । इसके विभाव मनका सन्तापादि जानना, आघातसे ताडना समझना । इसका उदाहरण—“ कान्ते तव ” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि नायिकाके प्रति नायकका वचन है हे प्रिये । स्वेदबिन्दु तेरे कुचसमीपमें शोभित होते हैं और यहां उत्पेक्षा करते हैं कि अवटितघटनासे उत्पन्न सन्तोषयुक्त कामदेवने मानो पुष्पवृष्टि की है यहां स्वेदरूप सात्त्विकभावका विभाव इर्ष है ॥ अब रोमाश्चका लक्षण कहते हैं “ विकारसमुत्थ ” इत्यादिवाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि विकारसे उत्पन्न जो रोमोत्थान सो रोमाश्च है । शीतसे उत्पन्न रोमोत्थानमें सात्त्विकपदव्यवहार नहीं होता है सो होजायगा इससे विकारसमुत्थ पद दिया । इसके विभाव शीतादि हैं कि, इसका उदाहरण—“ बकुलमुकुल ” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है, नायिकाके प्रति सखीका वचन है कि हे सरिख ! बकुलवृक्षका जो पुष्प उसके एक्य अर्थात् मध्यसे रोष करिके बाहर निकलते हुए जो धमर उनका जो शब्द उससे युक्त ऐसी जो कुञ्जभूमि उसमें मन्द हास करिकै सुन्दर जो यह कृष्ण स्त्री

गद्गदत्वप्रयोजकीभूतस्वरस्वभाववैजात्यं स्वरभंगः । अ-  
स्य विभावाः क्रोधभयहर्षमदाः । यथा-  
व्यक्तिः स्यात्स्वरभेदस्य कोपादुक्तिः कियेत चेत् ।  
इति पत्युः पुरो राधा मौनमाधाय तिष्ठति ॥ ६ ॥

भावत्वे सति शरीरनिस्पन्दो वेपथुः । भावत्वे सतीति  
विशेषणदानाद सूचकस्पन्दादौ नाऽतिव्याप्तिः । शरीरपदं  
चेष्टाश्रयमात्रपरम्, तेन शरीरावयवकम्पे नाऽव्याप्तिः ॥

कपोलसमीपभागको आज कैसे रोमाश्चयुक्त करताहै यह कहनेका अभिप्राय यह है कि तेरा सौन्दर्यसारावलोकन करिके कृष्णके सात्त्विकभावीय रोमोद्धम दुआ । यहां सात्त्विकभावरूप जो रोमाश्च उसका विभाव हर्ष है ॥

अब स्वरभंगका लक्षण करतेहैं । “गद्गदत्वे” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि गद्गदादत्तका प्रयोजक जो स्वरस्वभावका विलक्षणत्व सोही स्वरभंग है । अनुकरणमें भी स्वरस्वभाववैलक्षण्य है तहां अतिव्याप्तिवारणार्थ गद्गदत्वप्रयोजकी भूत यह विशेषण दिया । इसके विभाव क्रोधादिक हैं इसका उदाहरण—“व्यक्तिः स्यात्” इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि सखीके प्रति सखी कहतीहै कि यादि कोष करिके मुझसे किञ्चित् उक्ति कीजावे अर्थात् कोपसे मैं कुछ कहूँ तो स्वरभंगकी अभिव्यक्ति अर्थात् प्रकाश होजायगा और उसका प्रकाश होनेसे कोपका प्रकाश होजायगा सो मत हो इस हेतुसे पतिके आगे राधा जो है सो मौनका आलम्बन करिके स्थित है । यहां सात्त्विकभाव जो स्वरभंग उसका विभाव क्रोध है । अब वेपथुका लक्षण कहतेहै । “भावत्वे सति” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि भावत्व होतसन्तैं जो शरीरकी क्रिया सो वेपथु है । यहां सत्यन्त विशेषण न दें तो शकुनसूचक जो नेत्रादिकी क्रिया उसमें अतिव्याप्ति होगी इस हेतु सत्यन्त दिया । तो शकुनसूचक क्रियामें भावत्व नहीं है इस हेतु अतिव्याप्ति नहीं हुई क्योंकि वह सूचक चेष्टा रसाऽनुकूल नहीं है सो जानना । यहां शरीरपद चेष्टाश्रयमात्र पर है । मात्रपद देनेसे शरीर और शरीरावयव दोनोंका ग्रहण होताहै । जो शरीर पद अन्त्यावयविमात्रपर कहो अर्थात् सकलशरीरार्थक कहो तो शरीरावयवकंप भी वेपथु कहाताहै तहां अव्याप्ति होगी, क्योंकि शरीरावयवका जो कंप है सो शरीरका कंप नहीं है, इस हेतु शरीरपद चेष्टाश्रयमात्रपर कहना । ऐसा दुआ तो शरीरावयवकंप भी शरीरकंप कहावैगा इस हेतु अव्याप्ति नहीं होगी ।

अस्य विभावा आलिंगनहर्षभीत्यादयः । यथा-  
कथय कथमुरोजदामहेतोर्यदुपतिरेष चिनोतु चम्पकानि ।  
भवति करतले यदस्य कम्पः प्रियसखि । मत्स्मृतिरेव  
मत्सपत्नी ॥ ६ ॥

कोई पुस्तकमें 'शरीरावयवकंपे नाऽतिव्याप्तिः' ऐसा पाठ है उसके अनुसार वेपथुके लक्षणमें शरीर पद अन्त्यावयविपर है । इस पक्षमें सत्यन्त विशेषण नहीं दें तो अन्यथाआभासका हेतु और परप्रयोज्य जो आपका उत्क्षेपण वा अपक्षेपणरूप अवयविकर्म सोही हुआ सूचकस्पन्द वह भी शरीरकर्म है तो वहां अतिव्याप्ति होगी । इस हेतु भावत्वे सति यह विशेषण दिया । ऐसा हुआ तो मनोविकार-जन्यत्वप्रयुक्त जो भावत्व सो वहां नहीं है । इस हेतु अतिव्याप्ति नहीं होगी । इस पक्षमें शरीरशब्दका जो चेष्टाश्रय अर्थ किया तहां भी चेष्टाश्रय इसका चेष्टाश्रय अन्त्यावयवी यह अर्थ जानना । ऐसा कहनेसे शरीरावयवकंपमें अर्थात् हास्यमूल अधरस्पन्दमें अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि यह अधरस्पन्द विकारसंभूत है तो भी शरीररूप जो अवयवी उसकी क्रिया नहीं है । प्रथम पक्षमें जो 'अतिव्याप्तिः' ऐसाही पाठ होय तो उसकी इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये कि 'नाऽतिव्याप्तिः' यह जो पाठ है तहां प्रकृत लक्षणका ऐसा आदिमें समझ लेना और अतिशब्दका अर्थ अतिक्रान्त है । व्याप्ति शब्दका अर्थ संबन्ध है तो यह अर्थ हुआ कि प्रकृत लक्षणकी व्याप्ति अर्थात् संबन्ध अतिक्रान्त है अर्थात् शरीरावयवकंपमें नहीं रहे है । यह अतिव्याप्तिशब्दका अर्थ हुआ तो अतिव्याप्तिशब्दसे अव्याप्ति व पर्यवसन्न हुई । इस रीतिसे 'नाऽतिव्याप्तिः' इस शब्दका यह अर्थ हुआ कि अव्याप्ति नहीं हुई तो प्रथमपक्षाऽनुसार होगया सो जानना । इसके विभाव आलिंगनादिक हैं । इसका उदाहरण—“कथय कथम्” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि हे प्रियसखि ! अर्थात् सुखदुःख कहनेका स्थानमूल ! यह अर्थात् अधिकता करिकै सदा निकटवर्ती जो यदुपति अर्थात् कृष्ण हैं सो चंपक पुष्पोंको कुचोंके हारके अर्थ अर्थात् कुचोंकी सुन्दरतासाधन मालाके अर्थ किस प्रकार संग्रह करो यह कहा, यह कहनेसे श्रीकृष्णमें अपने अनुरागको आगे करिके अपनी स्मृतिमें सौतिकार्यकारित्व दृढ़करती हुई कविनिबद्धवक्त्री कृष्णविषयकानुरागातिशयका कथन करती है कि जिस कारणसे कृष्णके करतलमें कंप होता है तिस कारणसे मैं यह जानती हूँ कि मेरी जो स्मृति है अर्थात् मेरे सदृश चंपकपुष्पोंको देखकरिकै मेरी याद है सोही मेरी सपत्नी है और नहीं है । सपत्नी है इसका अर्थ यह है कि मेरे

विकारप्रभवप्रकृतवर्णन्यथाभावो वैवर्ण्यम् । अस्य विभा-  
वा मोहभयक्रोधशीततापश्रमाः । यथा—  
कुकुटे कुर्वति क्वाणमाननं श्लिष्टयोस्तयोः ।  
दिवाकरकराक्रान्तशशिकान्तिमिवादधौ ॥ ७ ॥  
विकारजनितमक्षिसलिलमश्रु । अस्य विभावा हर्षमर्ष-  
धूमभयशोकजूंभाशीतनिर्निमेषप्रेक्षणानि ॥ यथा—  
विसृजविसृज चित्त दुःखधारामयमुपकण्ठमुपागतो मुरारिः ।  
इति कथयितुमश्रुविन्दुरक्षणोर्निपतति वक्षसि पक्षमलायताक्ष्याः ॥

इच्छतमें विन्द करनेवाली है । यहां करतलमें जो कंप कहा सो करतलहीको पुष्पसंग्रहसाधनता है इस हेतु उसही को कंप दिखाया । यह दिखानेसे सपूर्ण शरीरका कंप सिद्ध नहीं हुआ । इस हेतु दोनों पक्षोंमें उदाहरणतां इस श्लोकको होगई । यहां कृष्णनिष्ठ जो वेष्यु उसका विभाव हर्ष है सो जानना ॥

अब वैवर्ण्यका लक्षण कहते हैं । “विकारप्रभवे” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि विकारसे उत्पन्न जो प्रकृत वर्णका अन्यथाभाव अर्थात् वर्ण बदल जाना सो वैवर्ण्य है । जरावस्था वा आतप एतत्कृत जो वैवर्ण्य है तहां अतिव्याप्तिके वास्तवके अर्थ विकारप्रभव यह विशेषण दिया इसका विभाव मोहभयादिक है इसका उदाहरण “कुकुट” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि रसभरकरिकै प्रभात समयका ज्ञान नहीं हुआ है जिनको ऐसे जो सम्यक्लपकार आलिंगनासक्त स्त्री पुरुष उनका जो मुख है उसके कुकुट जो है सो प्रभातकालिक अव्यक्त शब्द करतसन्ते सूर्य किरणोंसे तिरस्कृत जो चन्द्रमा उसकी कान्तिको धारण करताभया । मानो यह उत्प्रेक्षा है । अभिप्राय यह है कि नायकनायिकाओंकी उत्कण्ठापूर्ति नहीं होनेसे दोनोंका बल हीन होगया । यहां स्त्री पुरुषको जो वैवर्ण्य है उसका विभाव सन्ताप है ॥

अब अश्रुका लक्षण कहते हैं “विकारजनित” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि विकारसे उत्पन्न जो नेत्रजल सो अश्रु है । धूम करिकै उत्पन्न जो अश्रु है उसमें अतिव्याप्ति मत हो इस हेतु विकारजनित यह पद दिया । इसके विभाव हृष, क्रोध, धूम, भय, शोक, उकासी, शीत, विना निमेष ज्ञांकना ये हैं । इसका उदाहरण “विसृज” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि हे चित्त ! दुःखका जो प्रवाह उसको त्यागकर यह जो मुरारि है सो समीपमें प्राप्त होग-

शारीरत्वे सति चेष्टानिरोधः प्रलयः । शारीरत्वे सतीति  
विशेषणान्निद्रादौ नातिव्यासिः । स्तम्भादयः शरीरधर्मा-  
स्तेषां साहचर्यकथनेन प्रलयोऽपि शरीरधर्म एव ॥  
तेनाऽत्र चेष्टापदेन शरीरचेष्टैवाऽभिमता । मनसस्तु कर्म  
भवति, न तु चेष्टा । अत एव चेष्टाश्रयः शरीरमिति  
शास्त्रीयं लक्षणम् । अस्य विभावा रागौत्कण्ठचा-  
दयः । यथा-

यहै यह कहनेके अर्थ ही मानो सुन्दरपक्षमयुक्त और दीर्घ ऐसे हैं नेत्र जिसके  
ऐसी जो खी उसके नेत्रद्वयका जो अशुजल है सो वक्षःस्थलमें पड़ताहै । यहाँ  
कामिनीनिष्ठ जो अशु उसका विभाव हर्ष है ॥

अब प्रलयका लक्षण कहते हैं “शारीरत्वे सति” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ  
यह है कि शरीरधर्म होत सन्ते जो चेष्टानिरोध अर्थात् चेष्टाकी अनुत्पत्तिका प्रयो-  
जक वस्तु सो प्रलय है । इस ही प्रलयको करना पाटव और शैथिल्य इन दोनों  
शब्दोंसे भी कहते हैं । यहाँ सत्यन्त न कहें तो निद्रामें अतिव्यासि होगी क्योंकि  
निद्रा भी चेष्टानिरोधरूप है इस हेतु सत्यन्त पद दिया । तब निद्रामें अतिव्यासि  
नहीं होती है क्योंकि निद्रा आन्तर धर्म है, शरीरधर्म नहीं है सो जानना ॥ अब  
यहाँ यह शंका होती है कि चेष्टा और क्रिया दोनोंके निरोधको जनानेवाला जो  
प्रलय पद है उस प्रलयपदका यत्किञ्चित् चेष्टानिरोध अर्थ कहोगे तो स्तंभमें भी  
यत्किञ्चित् चेष्टाका निरोध होताही है तो वहभी प्रलय कहावैगा । इस हेतु चेष्टा-  
सामान्यनिरोधको प्रलय कहो । ऐसा कहोगे तो प्रलयलक्षणमें असंभव होजायगा  
क्योंकि वक्ष्यमाण उदाहरणमें मनःक्रियाकी उत्पत्ति कही है इसलिये चेष्टासा-  
मान्यनिरोध नहीं रहा । इस शंकाका समाधान यह है कि स्तंभादिक शरीरधर्म  
हैं उनका साहचर्य प्रलयमें भी कहाहै इससे प्रलयभी शरीरधर्म ही है । यह कह-  
नेसे मनःक्रियानिरोधक जो मनोधर्म है सो प्रलय नहीं समझना क्योंकि वह धर्म  
शारीर नहीं है । जो प्रलय शरीरधर्म है, यह विवक्षित हुआ तो यहाँ चेष्टा पदसे  
शरीरचेष्टा ही अर्थात् हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थ क्रिया हा अभिमत है उस ही  
क्रियाको निरोध प्रलय है सो जानना चाहिये । ऐसा हुआ तो पूर्व जो स्तंभमें अति-  
व्यासि दोष कहा या वह नहीं रहा । क्योंकि स्तंभमें यद्यपि यत्किञ्चित् क्रियाका  
निरोध है तो भी चेष्टासामान्यनिरोध नहीं है सो जानना । और प्रकृत उदाहरणमें जो

नो वक्रं नमितं धूतं न च शिरो व्यावर्तितं नो वपु-  
र्वासो न श्लथमाहृतं निगदितं नो वा निषेधाक्षरम् ।  
शोणं नाऽपि विलोचनं विरचितं क्रीडाकलाकातरं  
चेतः केवलमानने मधुरिपोव्यापारितं राधया ॥ ९ ॥

असंभव दोष कहा वह भी अब नहीं होता है । क्योंकि वहां मनःक्रियाकी उत्पत्ति कहा है तो भी वह क्रिया शारीरचेष्टा नहीं है इस हेतु शारीरचेष्टानिरोध वहां रहेगा, इस हेतु असंभव नहीं होगा सो जानना । कदाचित् कहो कि चेष्टाशब्द तो क्रियामात्रार्थक है तब हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था क्रिया उसका अर्थ करोगे तो निहतार्थता दोष होगा । यह शंका नहीं कहनी चाहिये, क्योंकि शास्त्रमें जहां शरीरलक्षण है तहां चेष्टाश्रय शरीर है यह कहा है । यह लक्षण शरीरका तबही युक्त होगा कि हिताहितेत्यादि अर्थ चेष्टाका करोगे । सामान्यतः क्रियाश्रय करोगे तो घटपटादिमें भी क्रिया होती है तो घट पट भी शरीर कहावेंगे इस हेतु उक्तही अर्थ चेष्टाशब्दका है तो निहतार्थ दोष नहीं हो सकता है सो जानना । 'स्तंभादयः शरीरधर्माः' यहांसे आरंभ करिके 'शास्त्रीयं लक्षणं' यहां पर्यन्तकी व्याख्या यह जाननी । इसके विभाव अनुराग और उत्कण्ठा इत्यादि हैं सो जानना । इसका उदाहरण "नो वक्रं नमितम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । इडोकार्थ यह है कि मानके आधिक्यसे अधिक क्रियागया जो विप्रलंभ उससे मिलित जो दुःसह ज्वर उससे खिंच ऐसी और शठताज्ञानकरिके एकत्रीकृत जो रोषप्रकर्ष उसके आग्रहसे युक्त ऐसी भी होकरिके अवितर्कित जो तत्कालप्राप्त दुर्घट समागम उससे संजात उत्कण्ठाभरसे चञ्चल अन्तःकरण है जिसका ऐसी नायिकाने ( कान्तमुखाऽनवलोकनस्पृष्टाकं संबन्धसे युक्त है तो भी ) मुखको नम्र नहीं क्रिया और ( नायकने जब चिबुकग्रहण क्रिया तब निषेध करनेके अर्थ ) मस्तक नहीं कॅपाया । और ( नायकने अत्यन्त आश्लेष क्रिया तब ) शरीर उलटा नहीं क्रिया । और पतित वस्त्र ऊपर धारण नहीं क्रिया । और ( नायकने वस्त्रका स्पर्श क्रिया तब ) निषेधाक्षर नहीं कहा । और नेत्र भी रक्त नहीं क्रिया ( क्योंकि जो दुःख भोक्तव्य है सो तो भुक्त होगया अब इसके आगे रोषसे क्या प्रयोजन यह मान करिके ) किन्तु क्रीडाविशेषमें दुःखी जो अन्तःकरण सोही मधुरिपु जो कृष्ण अर्थात् दुःखप्रहरण-शील उनके मुखमें दीनतारूप व्यापारसे युक्त क्रिया । अभिप्राय यह है कि संगूणे शरीरचेष्टाका निरोध होगया । एक मनमें ही दीनतारूप व्यापार हुआ तो प्रलय-लक्षणसमन्वय सुकरदी है विभाव उसका उत्कण्ठा है सो जानना ॥

## जृम्भा च नवमः सात्त्विको भाव इति प्रतिभाति ।

अब यहां यह विचार करते हैं कि जृम्भाको भी रसाऽनुकूलता है और विकाररूपता है इस हेतु नवम सात्त्विक भाव कहना युक्त है । यहां यह शंका होती है कि लज्जासे उत्पन्न जो अङ्गसंकोच उसको भी सात्त्विकभाव कहना चाहिये । इसका समाधान यह है कि लज्जा आदिका नहीं व्यञ्जित करनेवाला जो अंगसंकोच है सो रसाऽनुग्रुण है और प्राणुक्तविकारत्व भी उसमें वाधित है इससे वह सात्त्विक भाव नहीं है । फिर यह शंका हुई कि जृम्भाभी स्वतः सुन्दर नहीं है तो उसको भी सात्त्विक भाव नहीं कहना चाहिये । इसका समाधान यह है कि प्रामाणिक पुरुषने जृम्भाको सात्त्विकभाव कहा है । यद्यपि पवनसे उत्पन्न जृम्भाको सात्त्विक भावत्व नहीं भी है तो भी विकारसमूत्र जृम्भाको सात्त्विकभावत्व है ही । जिस प्रकार घूमसंभूत अश्रुको सात्त्विकभावत्व नहीं भी है तो भी विकारसमूत्र अश्रुको सात्त्विकभावत्व है ही इसही अभिप्रायसे “जृम्भा च” इत्यादि वाक्य कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि जृम्भाभी नवम सात्त्विकभाव है यह दीखता है । यहां जृम्भाशब्दका अर्थ वायुपरिपोष जानना । यहां यह शंका होती है कि जिस युक्तिसे जृम्भाको सात्त्विकभाव कहते हो उस युक्तिसे ही निःश्वास भी दशम सात्त्विक भाव कहना उचित है । इसका समाधान यह है कि मुखसे आविर्भूत जो वायुपरिपोष सो तो जृम्भा है और नासिकासे आविर्भूत जो वायुपरिपोष सो निःश्वास है । ऐसा हुआ तो जृम्भाका उपादान करिके जो सात्त्विकभावका विभाग करे तब तो निःश्वासको दशम सात्त्विक भाव कहना युक्त ही है । और यदि वायुपरिपोषका उपादान करिके विभाग करे तब नव ही भेद होंगे, क्योंकि वायुपरिपोषसे जृम्भा और निःश्वास दोनोंका संग्रह होजायगा इससे नवही सात्त्विक भाव कहना योग्य है । इसही हेतु जृम्भा निःश्वासके साधारण्यसे नवम सात्त्विकभावता प्राप्त होनेके अर्थ दोनोंमें प्राप्त जो अनौज्ज्वल्य उसका बोधक जो आलस्यपद उसको “भेदो वाचि हशोर्जलं कुचतटे स्वेदः प्रकम्पोऽधरे पाण्डुर्गण्डतटी वपुः पुठकितं लीनं मनस्तिष्ठति । आलस्यं नयनश्रियश्वरणयोः स्तंभः समुज्जृम्भते तत्किं राजपथे निजामवरणीपालोऽयमालोकितः ॥” इस रसमञ्जरीके इलोकमें जृम्भाके स्थानमें कहा है जो जृम्भाहीमात्र कहना होता तो ‘जृम्भावक्तसरोरुहे’ ऐसा ही कहते सो कहा नहीं इससे वायुपरिपोष कहकरिके दोनोंको ही सात्त्विकता इष्ट है, यह दीखता है । ऐसा हुआ तो इसही युक्तिसे स्वेद अश्रु इन दोनोंको भी सलिलोद्धमशब्दसे कहसकते हैं इस हेतु इन दोनोंका एक ही विभाग होजायगा । यह बात यद्यपि सत्य है तथापि गणना जो है सो पुरुषकी इच्छानुपार होसकती है इस हेतु यह दोष

ऊर्जन्नाननमुल्लसत्कुचयुगं स्विद्यत्कपोलस्थलं  
 कुञ्चत्पक्षम् गलदूक्लमुदयन्नाभि भ्रमद्गूलतम् ।  
 बालाग्रांगुलिबद्धवाहुपरिधिन्यञ्चद्विवृत्तत्रिकं  
 त्युद्यत्कञ्चुकसन्धिदर्शितलसद्वौमूलमुज्जृम्भते ॥ १० ॥

नहीं कहना चाहिये । अब जृम्भा नवम सात्त्विक भाव है इसमें प्राचीनसंमति भी दिखाते हैं “ऊर्जन्नाननम्” इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि बाला जो है सो उज्जृम्भत होती है अर्थात् उबासी लेरही है । उबासीलेनेका प्रकार क्रियाविशेषणकी रीतिसे कहते हैं । ‘ऊर्जन्नाननम्’ अर्थात् अधिक इवासयुक्त है मुख जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और अतिशय उच्चताको प्राप्त और प्रकाशमान ऐसा है स्तनद्रय जिस क्रियामें जैसे होय तैसे । और स्वेदजालयुक्त हैं कपोल जिस क्रियामें जैसे होय तैसे ( यह कहनेसे जृम्भाको स्वेदनरूप सात्त्विकभावके साथ साहचर्य कहागया ) और मिलित है नेत्रपत्र जिस क्रियामें जैसे होय तैसे । और पतित होता है नीवीवन्ध जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और ऊपरको गमन करती है नाभि जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और भ्रमित होती है भू जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और अंगुलीके अग्रभागसे बांधा है बाहुपरिवेष जिस क्रियामें जैसे होय तैसे ( परिवेष कहनेसे मुखको चन्द्रत्व ध्वनित किया ) और नीचा होताहै पृष्ठवंशका अधोभाग जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और दूटी है कंचुकीकी सन्धि जिस क्रियामें जैसे होय तैसे दर्शित अर्थात् कामुकलोचनातिथीकृत और स्वतःप्रकाशयुक्त दोमूल अर्थात् कक्षाप्रदेश है जिस क्रियामें जैसे होय तैसे । इस श्लोकमें जृम्भाको सात्त्विकभावके साथ देखते हैं । और शृंगारतिलक ग्रन्थमें भी जृम्भाको सात्त्विकभाव सामानाधिकरण्य देखते हैं । तदां यह श्लोक है कि “ सत्यं सन्ति गृहे गृहे प्रणयिनो येषां भुजालिंगनव्यापारोच्छलदच्छमोहनजला

१ सत्यं सन्तीत्यादि श्लोकका अर्थ यह है कि वह जो प्रणयी अर्थात् प्रेमपात्रभूत पुरुष सो घरघरमें है यह बात सत्य है । वह कौन जिन प्रणयीओंके बाहुद्यकरिकै जो आलिंगनआपार उस व्यापारसे उच्छलत् अर्थात् बहुत होकरिकै गमन करता हुआ । और अच्छ अर्थात् स्वभावसुन्दर जो मोहनजल अर्थात् निधुबनसम्बन्धी निश्पन्द वह है जिनको ऐसी ब्रियां होती हैं । और यह अर्थात् उद्दिष्ट जो कोई प्रिय अर्थात् अनिर्वचनीयलाभण्यरूप सो तो अलौकिकही सम्भावनाविषय है । यह प्रिय कैसा है कि यह प्रिय दृष्टिगोचर होत सन्ते ही हमारा शरीर स्वेद और जृम्भा और कंप और साध्वस अर्थात् दुष्प्रापतासंभावनासमूत भय इत्यादि समुदाय करिकै कोई अर्थात् अनिर्वचनीय अवस्थाको नियत अर्थात् अवश्य ही प्राप्त होजाता है ॥

इत्यादौ शृङ्गारतिलकादौ च सात्त्विकभावसामानाधिकर-  
ण्यदर्शनात् । ननु सा भावाऽनुभाव इति विपरीतमेव किं  
न स्यादिति वाच्यम्, सत्यनुभावत्वे भावत्वविरोधाव-  
पुलकादीनां तथा दृष्ट्वात् ।

जायन्त एणीहशः । प्रेयान् कोऽप्यपरोऽयमत्र नियतं दृष्टपि यस्मिन्वपुः स्वेदो  
जृम्भणकम्पसाध्वसमुखैः प्राप्नोति काञ्चिहशाम् ॥ ” इस श्लोकमें स्वेद और उज्जृ-  
म्भण और कम्प ये तीन कहे हैं तहाँ कम्प तो वेपथुका पर्याय है और स्वेद और  
कंप इनके मध्यमें उज्जृम्भण कहा इससे सात्त्विकभावसम्पुटित जृम्भाका निर्देश यहाँ है  
इस देतु सात्त्विकभावमध्यपतित जो है उसका सात्त्विकभाव ग्रहणसे ग्रहण होताहै  
( ‘तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्णते’ इस न्यायसे ) ऐसा हुआ तो जृम्भाको सात्त्विक-  
भावता शृङ्गारतिलककर्ताको भी अभिमत है सो जानना ॥ अब जृम्भाको अनुभावमें  
अन्तर्भूत करना चाहिये यह शंका “ननु” इत्यादिवाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह  
है कि यह जृम्भा सात्त्विकभाव है अथवा अनुभाव है इसमें कोई विनिगमक नहीं तो  
अनुभाव ही इसको मानना । और जहाँ ‘न च सा भावाऽनुभाव’ इत्यादि पाठान्तर है  
तहाँ यह व्याख्या जाननी कि वह जृम्भा सामान्यरीतिसे भावका अनुभाव है  
अथवा सात्त्विकभावका अनुभाव है । इस प्रकार विपरीत ही क्यों नहीं करते हो ?  
इसका समाधान यह है कि अनुभाव माननेसे भी सात्त्विकभाव माननेमें कोई प्रति-  
बन्धक नहीं है यही बात ‘सत्यम्’ इत्यादि वाक्यसे कही है । यहाँ फिर शंका  
होती है कि विरुद्ध जो दो वस्तु उनका एक स्थानमें समावेश नहीं होताहै इस हेतु  
सात्त्विकभावत्व और अनुभावत्व इन दोनोंमेंसे एकका वाध अवश्य कहना  
होगा । जब भरतवाक्यको प्रमाण मान करिके आठही सात्त्विक भाव मानना,  
जृम्भाको अनुभाव ही मानना सो ही युक्त है । इसका समाधान यह है कि  
रोमाञ्चादिकमें सात्त्विकभावत्व और अनुभावत्व दोनों देखते हैं इससे इन दोनोंको  
विरोध नहीं है, सो जानना ॥

अब कोई भ्रान्त यह शंका करते हैं कि अंगका संकोच और नेत्रमर्दन इत्या-  
दिको भी भाव कहना चाहिये । इस शंकाका यह समाधान है कि अंगाकृष्टि और  
नेत्रमर्दनादि जो हैं तिनमें भावलक्षण नहीं रहता है । इससे वे भाव नहीं कहाते हैं  
क्योंकि रसके अनुकूल जो विकार सो भावलक्षण कहा है । ऐसा हुआ तो अंगा-  
कृष्टवादि विकार नहीं है किन्तु शरीरचेष्टा है । यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है क्योंकि

न चांगाकृष्टिनेत्रमर्दनादीनामपि भावत्वापत्तिः । तेषां  
भावलक्षणाभावात् । रसाऽनुकूलो विकारो भाव इति  
हि तद्वक्षणम् । अंगाकृष्ट्यादयो हि न विकाराः । किन्तु  
शरीरचेष्टाः । प्रत्यक्षसिद्धमेतत् । अंगाकृष्टिरक्षिमर्दनं च  
पुरुषेरिच्छ्या विधीयते परित्यज्यते च । जृम्भा च विका-  
रादेवभवति तन्निवृत्तौ निवर्तते चेति । यथा-  
आधाय मौनं रहस्यस्थितायाः सम्भाव्य जृम्भामचलात्मजायाः ॥  
चुट्कृतिं स्मेरमुखो महेशः करांगुलीभिः कलयाच्चकार ॥ ११ ॥  
इति श्रीभानुदत्तमिश्रविरचितायां रसतरंगिण्यां सान्त्विकभावनिरूपणं  
नाम चतुर्थस्तरंगः ॥ ४ ॥

अंगाकृष्टि और नेत्रमर्दन पुरुष इच्छासे करते हैं और त्याग करदेते हैं इससे वे विकार नहीं हैं । और जृम्भा तो विकारसे ही होता है और विकारकी निवृत्तिमें निवृत्त होजाता है, इससे जृम्भाको सान्त्विकभाव कहना युक्त है, अंगाकृष्ट्यादिको कहना युक्त नहीं सो जानना । इस जृम्भाका उदाहरण—“आधाय” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि महादेव जो हैं सो मानको धारण करके एकान्तमें स्थित जो पार्वती उसकी जृम्भाको निश्चय करिके ( उसही जृम्भारूप हेतुकरिके मानका दूर करना सुसाध्य है इस ज्ञानसे ) हँसतेहुए ऐसे हाथकी अंगु-  
लियोंसे चुट्कृति अर्थात् चुट्ट यह अनुकरण है जिसका उस शब्दको करतेभये अर्थात् मान उड़करके गया इस हेतुसे हँसते हैं ।

इति श्रीरसतरङ्गीभाषाटीकायां सान्त्विकभावनिरूपणं नाम चतुर्थस्तरङ्गः ॥ ४ ॥

## पञ्चमस्तरंगः ५.



अथ व्यभिचारिभावा निरूप्यन्ते । तत्र भरतः-  
 निर्वेदग्लानिशंकाख्यास्तथासूया मदः श्रमः ।  
 आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धर्तिः ॥ १ ॥  
 ब्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।  
 गवों विषाद् औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च ॥ २ ॥  
 सुस्तिर्विद्योधोऽमर्षश्चाऽप्यवहित्थमथोग्रता ।  
 मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ ३ ॥  
 त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।  
 त्रयस्त्रिशदमी भावाः प्रयान्ति रसताममी ॥ ४ ॥

अब प्रसंगसंगतिसे अथवा अवसरसंगतिसे व्यभिचारिभावनिरूपणकी प्रतिज्ञा करते हैं “अथ” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि सात्त्विक भाव-निरूपणानन्तर व्यभिचारिभाव निरूपित कियेजाते हैं । इन व्यभिचारिभावोंको मानसत्व होतसन्ते स्थायिभावप्रकारक आरोपविशेष्यभूत भावत्वरूप लक्षणसे लक्षितत्व जो है सोही पृथक् निरूपणमें बीज है इस हेतु व्यभिचारिभावोंका विभाग करते हैं “तत्र भरत” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि निर्वेदादि ए तेतीस भाव व्यभिचारिपदवाच्य हैं सो जानना । ये तेतीस व्यभिचारीनामसे कथित हैं लक्षणसे कथित नहीं हैं । और पाठान्तरमें ये तेतीस भाव रसताको प्राप्त होते हैं यह व्याख्या जाननी चाहिये । यहां यह विचार होता है कि व्यभिचारिपदप्रवृत्तिनिमित्त जो व्यभिचारित्व सो शारीरमानसविकारसाधारण है अर्थात् दोनोंमें है इस हेतु दोनोंको लक्ष्यता युक्त है : इस ही अभिप्रायसे

इतस्ततो रसेषु संचारित्वमनेकरसनिष्ठत्वमनेकरसव्याप्त्यत्वं  
व्यभिचारित्वम् । न च रोमाश्चादावतिव्याप्तिस्तेषामपि  
संग्राह्यत्वात् । ते च भावाः शारीरा व्यभिचारिण एते  
त्वान्तरा व्यविचारिण इयान्विशेषः । ननु निर्वेदादेः  
स्थायित्वं व्यभिचारित्वं च कथमिति चेत्र, रसपर्यन्तस्था-  
यित्वमितस्ततोगामित्वश्चोपाधिभेदमादायोभयसम्भवात् ।

सामान्य लक्षण करते हैं “इतस्ततः” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि इतस्ततः अर्थात् काव्यनाट्यादिरूप अनियत कारणसे सहदयके प्रविष्ट हृथ्यमें और रसचर्व्यमाण होत सन्ते सञ्चारी अर्थात् चर्व्यमाण भावत्व जो है सो ही व्यभिचारि लक्षण है । ऐसा हुआ तो मानसत्वभावको त्यागकरिकै स्थायिभावपकारक आरोपाविशेषी भूतभावत्व उभयसाधारण लक्षण कहा सो जानना । यहाँ फिर यह विचार हुआ कि व्यभिचारिपद प्रवृत्तिनिमित्त जो है सो शारीर और मानस दोनोंमें रहता होय तबही दोनोंको लक्ष्यता कहना युक्त है इसही हेतुसे व्यभिचारिपदप्रवृत्तिको उभयसाधारणता दिखाते हैं “अनेकरसनिष्ठत्वम्” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि अनेकरसोंमें निष्ठा अर्थात् पोष्यपोषकभावरूप है सम्बन्ध जिनका सो कहिये अनेकरसनिष्ठत्व जो है सोई व्यभिचारिपदप्रवृत्तिनिमित्त है सो उभयसाधारण है । फिर यह विचार भया कि पोष्यपोषकभावरूप सम्बन्ध रसकाकेवल इनहींको नहीं है यहही कहनेके निमित्त व्यभिचारिपदप्रवृत्तिनिमित्त दिखाते हैं “अनेकरसव्याप्त्यत्वम्” इस ग्रन्थसे । इसका यह अर्थ है कि अनेक जो रस उनकी जो चर्वणा अर्थात् वारंवार अनुसन्धान उसकी व्याप्त्य जो सामग्री तामें निष्ठत्व यही व्यभिचारिपदप्रवृत्तिनिमित्त है । यह शारीर और मानस दोनोंमें रहता है इस हेतु यह प्रवृत्तिनिमित्त हो सकेगा । इस लक्षणमें भी कहीं विभावादिमें अतिव्याप्ति वारणार्थ भावत्वविशेषण देना सो जानना । अभिप्रायको नहीं जाननेवाले उरुष शंका करते हैं कि ऐसा व्यभिचारिभावका लक्षण कहोगे तो रोमाश्चादिमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि यह लक्षण वहाँ भी प्राप्त है । इसका समाधान आशयको प्रकट करिकै कहते हैं “तेषाम्” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि रोमांचादिकभी संग्राह्य हैं अर्थात् व्यभिचारिलक्षणके लक्ष्यही हैं । इतना विशेष जानना चाहिये कि इन संपूर्ण व्यभिचारिभावोंका जो लक्षण है और लक्ष्य है तहाँ शारीरत्व और मानसत्व इन विशेषणोंसे भेद करदेना । अभिप्राय यह है कि शारीर जो व्यभिचारिभाव हैं उनके लक्षण और लक्ष्यमें शारीरत्व विशेषण देदेना । और आन्तर जो व्यभिचारी हैं उनके लक्षणमें और लक्ष्यमें आन्तरत्व विशेषण

स्वावनानं, निर्वेदः संसारे हेयत्वबुद्धिर्वा निर्वेदः । तत्र निभा-  
वास्तत्त्वज्ञानापदीर्षादयः । अनुभावाः स्वेदप्रकाशचिन्ता-  
श्रुपातादयः । यथा—

देदेना । और शारीर सात्त्विकभावका जो अवान्तर भेद अर्थात् स्तंभस्वेदादि भेद हैं उनके लक्षणमें और लक्ष्यमें शारीरत्व विशेषण देदेना । और आन्तर व्यभिचारीका जो अवान्तर भेद है निर्वेदादि उसके लक्षण-लक्ष्यमें मानसत्व विशेषण देदेना, सो जानना । यहां यह शंका होती है कि निर्वेद अथवा अमर्ष अथवा त्रास इनको स्थायित्व और व्यभिचारित्व दोनों कहना किस प्रकार बनैगा? क्योंकि स्थायित्व और व्यभिचारित्व ये दोनों विरुद्ध हैं; क्योंकि भावविशेष्यक आरोपकारत्व तो स्थायित्व है और स्थायिभावारोपविशेषभावत्व व्यभिचारित्व है । ऐसा हुआ तो विचार करकै देखो कि एक वस्तुमें विशेष्यत्व और प्रकारत्व दोनों नहीं रह सकते हैं । इसका समाधान यह है कि शृंगार रसका स्थायिभाव जो रति सो करुण रसका व्यभिचारिभाव भी होता है । तो अब देखो रसपर्यन्त स्थायित्व होनेसे शृंगार रसका स्थायित्व रतिमें है । और इत्सततोगामित्वरूप जो व्यभिचारित्व सो भी करुण-रसका रतिमें है । यह बात दृष्ट है इस हेतु निर्वेदादिमें स्थायित्व और व्यभिचारित्व दोनों होनेसे विरोध नहीं जानना चाहिये । फिर यह शंका होती है कि जो रति व्यभिचारिभाव है, तो निर्वेदादि व्यभिचारिभावोंकी गणनामें रतिकी गणना नहीं की तो न्यूनता होगई । गणना किये बिनाभी जो रतिमें व्यभिचारित्व मानो तो जिस प्रकार शान्त रस मानते हैं, तिसही प्रकार पुत्रादिविषयकरतिरूप स्थायिभावसंबंधी वात्सल्याख्य रसान्तरभी मानना होगा इसका प्रत्याख्यान नहीं बनेगा । इसका समाधान यह है कि रतिकी स्थायिभावमें गणना की ताकरिकैही रतिकी व्यभिचारिभावमें भी गणना होगई जिस प्रकार व्यभिचारिभावमें निर्वेदकी गणना करकै स्थायिभावमें भी निर्वेदकी गणना होजाती है । इससे न्यूनता दोष नहीं रहेगा सो जनना । यहां यह शंका कोई करै कि रतिकी तो व्यभिचारिभावमें गणना करदेते और निर्वेदकी स्थायिभावमें गणना करदेते । ऐसा भी करनेमें मुनिका सामर्थ्य थाही फिर ऐसाही क्यों नहीं किया । यह शंका करना समीचीन नहीं । गणना करनेवालेकी इच्छा इसमें नियामक है । यहां अशोकवनितान्याय अहण कियाजाता है और मुनिकेप्रति तो यह शंका करना सर्वथाही अनुचित ह । व्यभिचारभावके व्यञ्जनमें विभाव अनुभाव दोहीकी सहायता जानना । एक व्यभिचारिभावके व्यञ्जनमें दूसरे व्यभिचारिभावकी अपेक्षा नहीं इस तु निर्वेदका विभाव अनुभाव दिखाते हैं । “तत्र” इत्यादि वाक्यसे ।

क्षोणीपर्यटनं श्रमाय विहितं वादाय विद्यार्जिता  
 मानध्वंसनहेतवे परिचितास्तेते धराधीश्वराः ॥  
 विश्लेषाय सरोजसुन्दरदशामास्ये कृता हृष्टयः  
 कुञ्जानेन मया प्रयागनगरे नाऽऽराधि नारायणः ॥६॥

तत्र यह जो पद है सो षष्ठ्यर्थमें सप्तम्यन्त जानना तो यह अर्थ हुआ कि निर्वेदरूप व्यभिचारिभावके विभाव तो तत्त्वज्ञान और आपत्ति कि अर्थात् गृहकलहादि और ईर्षा आदि हैं । और अनुभाव स्वेद और प्रकाश और अश्रुपातादि हैं । तहाँ आपका जो अवमानन अर्थात् अवज्ञा ( कि जीवनेन इत्याकारा ) अथवा संसारमें जो हेयताबुद्धि अर्थात् यह संसार असारही है इसमें प्रवृत्ति होनेसे क्या ? इत्याकारक सो निर्वेद है । यहाँ यह रहस्य जानना कि कोई व्यभिचारिभाव आपकी सामग्रीसे व्यंग्यताको प्राप्त होकरिके प्रधानताको प्राप्त होजाय तहाँ मध्यमें और व्यभिचारिभावका अल्पसामग्रीसे व्यञ्जन होकरिके प्रधानभूत व्यभिचारिभावका अंग होनेमें कुछ निषेध नहीं है, जिस प्रकार गर्व जहाँ प्रधान होगा तहाँ अमर्षके गुणीभाव होनेमें कोई दोष नहीं है । यहाँ ऐसी शंका कदाचित् कोई करै कि ऐसा जहाँ काव्य होगा तहाँ उस काव्यमें गुणीभूत-व्यंग्यत्वकी आपत्ति होगी क्योंकि उसकाव्यमें व्यभिचारिभाव गुणीभूत होकरिके व्यंग्य हुआ है । तो इस शंकाका यह समाधान है कि गुणीभूत व्यंग्यका यह अर्थ है कि गुणीभूत अर्थात् भावान्तरका अंगभूत व्यंग्य अर्थात् उपात्त विभावाऽनुभावोंसे अभिव्यक्तित चर्चण विषयीभूत होय जहाँ सो कहिये गुणीभूतव्यंग्य ऐसा हुआ । तो जहाँ मध्यमें गुणीभूत होकरिके व्यभिचारिभाव व्यंग्य हुआ है तहाँ गुणीभूत-व्यभिचारिभावका विभाव अनुभाव पृथक् उपात्त नहीं है इससे वह काव्य गुणीभूत-व्यंग्य नहीं होगा सो जानना । निर्वेदादिका विभावभी निमित्त कारणमात्र जानना रसवत् आलम्बन उदीपनकी अपेक्षा नहीं । यदि कोई स्थानमें आलम्बन उदीपनरूपभी कारण होजाय तो कोई विद्वेष नहीं है सो जानना । अब इसका उदाहरण “क्षोणीपर्यटनम्” इत्यादि श्लोकसे कहते ॥ ६ ॥ श्लोकार्थ यह है कि कुञ्जान अर्थात् मोहमूलकभ्रमयुक्त ऐसा मैने जो नानादेशमें भ्रमण किया सो भ्रमण होगया तोभी अभिलिपितार्थकी वासना पूर्ण नहीं हुई इससे श्रमके निमित्तही किया । अभिप्राय यह है कि जितना भ्रमण किया तितनी तृष्णा बढ़तीही गई और विद्या अर्थात् तर्कतन्त्रादि जो हैं सो कथाके अर्थ अर्जित किये अर्थात्

ग्लानिर्निर्बलता निःसहता वा । तत्र विभावा रत्याया-  
सतृक्षुधादयः । अनुभावा निर्व्यापारदृग्भ्रमादयः । यथा-

हट अभ्यास किया । अभिप्राय यह है कि हमारी विद्यासे किसीका उपकार नहीं हुआ । और वह वह अर्थात् अहंकार करिके अनादर कियाहै सम्पूर्ण संसारका जिनने ऐसे जो धराधीश्वर अर्थात् राजा सो मानके नाशनिमित्त अर्थात् अपमानके निमित्त परिचित अर्थात् अनुसृत किये । अभिप्राय यह है कि उन राजाओंको गुणवाहक पण्डितकी संगति नहीं थी । और पञ्चवत् मनोहर हैं नेत्र जिनके ऐसी जो स्त्री उनके मुखपर जो हाइ की अर्थात् सामिलाष उनको देख सो विश्लेष अर्थात् वियोगसे उत्पन्न दुःखके अनुभवके निमित्त की । अभिप्राय है कि सदा संभोगोत्कृष्टाही रही परन्तु प्रयागनगरमें नारायणका आराधन नहीं किया । नाना कर्म करिके क्लेशयुक्त जो कुटुम्बनाथक उसकी उक्ति यह श्लोक है सो जानना । यहां आपदादेसे विभावित और चिन्तादिसे अनुभावित जो निर्वेद सो चर्वणा विश्रामस्थान है इस हेतु यह भावकाव्य कहाताहै सो जानना । और जहां रसकाव्य है तहां भावकी प्रतीति होनेपरभी स्थायिभावहीमें चर्वणाका विश्राम होताहै क्योंकि वहां भावका आपके असाधारणरूपसे प्रकाश नहीं होताहै । यह बात स्मरण रखना चाहिये । और जहां आपके असाधारणरूपसेभी अलंकारादिका अंग होकरिके भाव प्रतीत होताहै तहां भी यह भाव भावपदकारिके व्यवहारयोग्य नहीं है किन्तु अलंकारकाव्यही है जिस प्रकार “यातु प्राघुणिको निजां तुण्कुटीं गन्ताध्वगं दण्डवचेतस्त्वत्परिपालितां दिशमिमां चीनांशुवद्वावति । श्रीम-च्छासनसेविभिः कतिपयैः सूत्रैर्विवरणेऽपि भूमैर्यैर्नितमध्वगैरिदमिव स्वास्थ्यं तदालम्बताम्” यहां पूर्णोपमा अलंकार मुख्य है । प्रभुविषयक रतिभाव अपधान है सो जानना ॥

अब ग्लानिका लक्षण करते हैं “ग्लानिः” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि निर्बलता अर्थात् धातुपाटवाभाव अथवा निःसहता अर्थात् व्याध्यादिप्रभूत वैवर्ण्यादिकृत दुःखविशेष ग्लानि है । यहां प्रथमपक्षमें ग्लानि वस्तु शरीरधर्म होजाताहै आन्तर नहीं कहावेगा इस हेतु दूसरा पक्ष कहा । यहां यह शङ्का हुई कि जो द्वितीय पक्षही समीचीन है तो प्रथमपक्षकी उक्ति असंबद्धप्रलाप होजायगा । इसका समाधान यह है कि निर्बलता कहनेसे बलहानिके सामानाधिकरण्यके प्रत्यायनकरिके बलसमानाधिकरणश्रमकापार्थक्य समर्थनके अर्थ प्रथम पक्ष सार्थक है सो जानना । ग्लानिका विभाव स्तिसे श्रम और तृष्णा और क्षुधा

व्याहर्तुं पुनरीक्षणाय न गिरः कण्ठाद्विर्निःसृताः  
 शेषाश्लेषविधिं विधातुमपि वा नैवोन्नता दोर्लंता ।  
 प्रातस्तत्प्रमपास्य गच्छति हरौ चण्डांशुचण्डातप-  
 क्षिष्टश्लिष्टकुरंगभंगुररुचस्तस्याः स्थिता दृष्टयः ॥ ६ ॥  
 उत्कटकोटिकानिष्टप्रतिसंधानमिष्टहानिविचारो वा शंका ।  
 तत्र दुर्नयपरक्रौर्यादयो विभावाः । अनुभावाः कम्पक्रिया-  
 प्रच्छादनादयः । यथा—  
 एते चित्तविलोचना गुरुजना जिह्वाग्रदोषाः खलाः  
 पौराः कूरवचःप्रपञ्चयशसः श्वशूश्व चक्षुःश्रवाः ।

इत्यादि जानना । अनुभाव विवरणता और शिथिलता और नेत्रका भ्रमण इत्यादि जानना । इसका उदाहरण “व्याहर्तुम्” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि श्रीकृष्ण जो है सो प्रातः कालमें शयनको छोड़करके जातसन्ते उस राधाका वचन जो है सो किर दर्शन देनेके अर्थ प्रार्थना करनेको कण्ठसे बाहर नहीं निकला और उस राधाकी बाहुलताभी शेषाश्लेषविधि अर्थात् संम्भोगका अंग पारितोषिक आलिंगन करनेको ऊंची नहीं हुई किन्तु दृष्टि जे हैं ते सूर्यके उपर तापसे जो उष्ण उससे क्षिष्ट अर्थात् पराहत ऐसा जो शिलष्टकुरंग अर्थात् चन्द्रमा उसकीनाई भंगुर अर्थात् भंगशील है कान्ति जिसकी ऐसी होती भई । यहां रत्यायाससे विभावित और वैवर्ण्यादिसे अनुभावित जो ग्लानि सो चर्वणाका विश्रामस्थान है । अब शंकाका लक्षण करते हैं “उत्कट” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि उत्कटकोटिक जो अनिष्टप्रतिसन्धान अथवा इष्टहानिका विचार सो शंका है । यहां इष्ट हानिभी अनिष्टान्तर्गतही हैं तो द्वितीय पक्षभी प्रथम पक्षमें ही अन्तर्गत होगया किर यहां वाशब्द जो दिया है सो संगृहीतके विवेकार्थ है सो जानना । इसही हेतु विभाव और अनुभावभी यथायोग्य दिखाते हैं “तत्र” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि शंकाके दुर्नीति और परकूरता इत्यादि विभाव हैं और कंप और क्रियाका ढकना इत्यादि अनुभाव हैं । तो विचार करना चाहिये कि अनिष्टका जो प्रतिसंधान उसका विभाव तो दुर्नय है और इष्टहानिविचारमें परकी कूरता विभाव है । और पूर्वपक्षमें अनुभाव कंप है तथा द्वितीयपक्षमें क्रियाप्रच्छादन है । अब इसका उदाहरण “एते चित्तविलोचना”

किं स्यादित्थमनर्थबीजमसकृत्सञ्चिन्त्य वक्षोरुहि  
स्फूर्जत्किशुकदाम वामनयना निःश्वस्य विन्यस्यति॥७॥  
परोत्कर्षासहिष्णुता परानिष्टचिकीर्षा वा असूया । तत्र  
विभावा मन्युदौर्जन्यादयः । अनुभावाः कोपचेष्टादो-  
षोद्गावनादयः । यथा-

हरशिरसि मयाप्यलब्धवासे निवसति काऽपि कलातुषा-  
रभानोः ॥ इति लिखति विधुन्तुदस्य मूर्ति प्रतिभवनं  
प्रतिभूधरं भवानी ॥ ८ ॥

इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि वामनयना जो है सो यह विचार करती है कि जिनका बारंबार अनुभव किया है ऐसे जो गुरुजन अर्थात् श्वशुरादिक सो परकीय अन्तःकरणको जाननेवाले हैं अर्थात् दूसरेके अभिप्रायको शीघ्र जानते हैं । और दुष्टजन जे हैं ते जिह्वाका अग्ररूप जो परकीय दोष ताकरिकै युक्त हैं अर्थात् परकीयदोषको प्रकट करनेमें रसिक हैं । और नगरस्य जो लोक हैं सो मर्मभेदी वचनका जो प्रपञ्च अर्थात् वाग्विभव उससे यश अर्थात् ख्याति है जिनकी ऐसे हैं । अर्थात् परकीयनिन्दामें व्यसनवाले हैं । और सासू जो है सो चक्षुःश्रवा है अर्थात् सुने हुए अर्थमात्रका ग्रहण करनेवाली है । अथवा चक्षुश्रवा नाम बधिर है । अभिप्राय यह है कि हमको देखकरिकै अन्यथा शंका करती हुई । यह प्रतारणके योग्य नहीं है सो जानना । इत्यं कहिये ऐसे होतसते किं स्यात् अर्थात् कौनं अनर्थ आपतित होगा । इस प्रकार बारंबार अनर्थबीज अर्थात् उत्कटकोटिक जो अनिष्ट उसका जो असाधारण उपाय उसका ध्यान करिकै स्तनोंमें शोभित जो पलाशकुसुमाभरण उसको निःश्वास लेकरिकै ( नखक्षतके गोपनार्थ, वामनयना जो है सो स्यापित करती है । यहां आपका जो दुर्नय और परकीय क्रीर्य दोनोंसे विभावित गम्य । और कम्पक्रियाप्रच्छादन दोनोंसे अनुभावित जो शंका सो चर्वणाविश्रामस्थान है । अब असूयाका लक्षण “परोत्कर्ष” इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि परका जो उत्कर्ष उसकी अस-हिष्णुता अर्थात् सहनशीलताऽभाव अथवा परका अनिष्ट करनेकी इच्छा सो असूया है । इसके विभाव क्रोध और दुर्जनता इत्यादि हैं । और अनुभाव क्रोधकी चेष्टा और दोषकथन इत्यादि हैं । उसका उदाहरण “हरशिरसि”

हर्षोत्कषो मदः । दुःखासंभिन्नसुखानुभव उत्कर्षः । तत्र  
विभावः पानम् । अनुभाव उत्तमानां निद्रा । मध्यमानां  
हसितम् । अधमानां रोदनम् । इन्द्रियमोहरूपाऽत्र निद्रा,  
तस्मादिन्द्रियसंमोहे नयनघूर्णनसाम्येन निद्रेव निद्रा ।  
न च हर्षव्यभिचारिभावेऽतिव्याप्तिः । तत्र हर्षमात्रसत्त्वात् ।  
न तु तत्रोत्कषों जातिविशेषः । किंच, तत्र मनसो मोहः ।  
अत्र च मनसः प्रसाद् इति स्वरूपभेदात्, तत्र निद्रारो-  
दनादयोऽत्र पुलकादयोऽनुभावा इत्यनुभावभेदात् । ननु  
'तिष्ठतिष्ठ क्षणं मूढ मधु यावत्पिबाम्यहम्' इत्यादौ वीरर-  
सेऽपि मदो हृष्टोऽस्ति । तत्र निद्रा रोदनं वा कथमनु-  
भावौ । न हि योधः संयति रोदिति निद्राति वेति चेत् ।  
सत्यम्, रसभेदेनाऽनुभावभेदः । शृङ्गारे तेऽनुभावकाः ।  
वीरे नयनारुण्यचमत्कारादयः । सामान्ये च मदे नयन-  
घूर्णनवचनस्खलनादयश्चेति ॥ यथा—

इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि पार्वती जो है सो चन्द्रमाकी  
जो अनिर्वचनीयप्रभा वा कला सो मैंने भी अर्थात् अर्धांगीकृत जो मैं हूं तिसने  
नहीं पाया है वास जिसमें अर्थात् दुष्प्राप्य है स्थिति जिसमें ऐसा जो शिवका  
मस्तक उसमें निवास करती है । इस हेतु राहुकी मूर्तिके चित्रको घरघरमें और  
पर्वत पर्वतमें लिखती है । यहां चन्द्रकलाकी जो शिवमस्तकमें स्थिति उससे उत्पन्न  
जोः चन्द्रकलाविषयक क्रोध उससे विभावित और चन्द्रकलाग्राससमर्थ जो राहु  
उसकी प्रतिमाका सर्वत्र लेखनरूप जो कोपचेष्टा उससे अनुभावित जोः चन्द्रकला-  
विषयक असूया सो चर्वणाविश्रामस्थान है ।

अब मदका लक्षण कहतेहें “हर्षोत्कर्ष” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह  
है कि हर्षका जो उत्कर्ष सो मद है । यहां उत्कर्ष जो है सो दुःखसे नहीं मिला-  
हुआ ऐसा जो सुख उसका अनुभवरूप जो कहेंगे तो आगे उत्कर्षको जातिरूप  
वर्णन किया सो असंगत होजायगा, इस हेतु दुःखासंभिन्नसुखानुभवानियत जो

रसना रसयत्यसौ मधु स्वयमस्माकमनर्थकं जनुः ।  
इति तत्र समस्तमिन्द्रियं प्रतिविम्बस्य मिषेण मज्जति ॥ ९ ॥

जातिविशेष सो उत्कर्ष है, यह कहनेसे तत्त्वसाक्षात्कारमें भी अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि वहां उत्कर्ष नहीं है सो जानना । इसका विभाव पान है और अनुभाव पुरुषभेदसे विलक्षण है क्योंकि उत्तमको तो पान करनेसे निद्रा होती है । और मध्यमको इसना होताहै । और अधमको रोदन होताहै । इस हेतु मदका अनुभाव विलक्षण जानना । यहां निद्रा जो है सो इन्द्रियोंका संमोह है यह वास्तविक निद्रा' नहीं है । किन्तु इन्द्रियके संमोहमें नयनघूर्णनका साम्य होनेसे निद्रासदृश यह निद्रा है । यहां हर्षमात्रको मद कहते तो हर्षरूप व्यभिचारिभावमें अतिव्याप्ति होजाती क्योंकि यह भी व्यभिचारिभाव हर्षरूप होनेसे मद कहाँवैगा, इस हेतु उत्कर्ष पद दिया तो हर्षरूप व्यभिचारिभावस्थलमें हर्षमात्र हर्षमें उत्कर्षरूप जातिविशेष नहीं है । और सुनो कि मदरूप व्यभिचारिभावमें मनका मोह है और हर्षरूप व्यभिचारिभावमें मनको प्रसन्नता है । यह कहनेका अभिप्राय यह है कि मदरूप व्यभिचारिभावस्थलमें मनको मोहपद करिके व्यवहार है और हर्षरूपव्यभिचारिभावमें मनको प्रसादपद करिके व्यवहार है । इस प्रकार दोनोंको स्वरूपभेद है । और सुनो कि मदमें तो उत्तमको निद्रा, मध्यमको इसन, अधमको रोदन ये अनुभाव हैं और हर्षरूपव्यभिचारिभावस्थलमें पुलकादिक अनुभाव हैं । इस प्रकार अनुभावभेदसे भी हर्षरूप व्यभिचारिभाव वा मदरूप व्यभिचारिभाव इनको भेद जानना । अब यहां यह शंका है कि 'तिष्ठतिष्ठ' इत्यादि सप्तशतीस्तोत्रमें देवीको वीररसमें भी मद देखते हैं तहां निद्रा वा रोदन ये अनुभाव किस प्रकार होंगे ? क्योंकि योद्धा संग्राममें न निद्रा लेते हैं न रोदन करते हैं । इस शंकाका समाधान यह है कि यह बात सत्य है परन्तु रसभेदसे अनुभावभेदभी होताहै इस हेतु यह जो निद्रादि अनुभाव कहेहैं सो शृंगाररसमें जानना । और जहां वीररसमें मद है तहां नयनकी अरुणता और चमत्कार इत्यादि अनुभाव हैं । जहां सामान्य मद है तहां नयनघूर्णन वचनस्वलन इत्यादिही अनुभाव हैं सो जानना । अब मदका उदाहरण "रसना" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि यह जो अर्थात् हमारा सजातीय रसना इन्द्रिय जो है सो आपही मधुको आस्वादित करताहै । हमारा सबका जन्म (इष्टानवासिसे) अनर्थक है । इस हेतुसे उस मधुमें सम्पूर्ण इन्द्रियसमूह प्रतिविम्बके छलसे डूबताहै । यहां उत्प्रेक्षा व्यञ्जित होती है । यहां उत्प्रेक्षाका वाचक शब्द नहीं है । इस हेतु उत्प्रेक्षा

आयासप्रभवः पराभवः श्रमः । तस्य विभावा रत्य-  
ध्वगत्यादयः । अनुभावाः स्वेदनिस्सहतादयः । यथा-  
स रामचन्द्रः सह निर्गतायाः स्वेदाम्बुसंसिक्तपयोधरायाः ।  
अपांगपातैर्मिथिलात्मजायाः श्रमानशषाज्ञिथिलीचकार १०

यहाँ इस प्रकार समझनी कि मधुमें इन्द्रियवर्गका जो प्रतिविम्ब है सो मानो इन्द्रियवर्ग इष्टानवासिसे दुःखित होकर डूबगया है । यहाँ मज्जति इस पदका अभिप्राय यह है कि पानके समकालीन उत्पन्न जो मद उससे उत्पन्न जो नयनघूर्णन उससे उत्पन्न पानके चिरसम्बन्धसे बहुत काल पर्यन्त मधुमें इन्द्रियोंकी संमुखता उत्पन्न हुई । यहाँ पानसे विभावित गम्य जो नेत्रघूर्णन उससे अनुभावित जो मद सो चर्वणा विश्रामस्थान है सो जानना । अब बलविरोधिग्लानिसे बलकी अविरोधिता प्रतिपादन करिके श्रमके भेद दिखाते हुए श्रमका लक्षण करते हैं “आयास” इत्यादि वाक्यते । वाक्यार्थ यह है कि परिश्रमसे ही उत्पत्ति है जिसकी ऐसा जो पराभव अर्थात् खेदनामक दुःखविशेष सो श्रम है । यहाँ परिश्रमसेही यह जो कहा तिस का यह अभिप्राय है कि बलहानिसे खेद नहीं है तो बलहानिका कथन नहीं हुआ इससे बलहानिका जो निषेध है सो ही पदसे कहागया । इससे यहाँ बलसमानाधिकरणही श्रम जानना इस हेतु बलहानिसमानाधिकरण जो ग्लानि तहाँ अतिव्याप्ति नहीं हुई । क्योंकि वहाँ बलसमानाधिकरण नहीं है सो जानना । इसके विभाव रतिमार्गमें चलना इत्यादिक हैं । अनुभाव प्रस्वेद निस्सहता इत्यादिक हैं । इसका उदाहरण “स राम” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह कोई कहते हैं कि राम कहिये योगियोंका जो मन उसका विश्रामधाम और चन्द्र अर्थात् सकलमनुष्योंको आहाद देनेवाला तो यह अर्थ हुआ कि वह जो योगिमनोविश्रामधाम और सकलजनाहादक ऐसा पुरुष सो साथगई ऐसी और इसही हेतु प्रस्वेदजलसे युक्त हैं पयोधर जिसके ऐसी ( यह कहनेसे सूर्यके सम्बन्धसे उत्पन्न स्वेदको आन्तरविकाराऽनुमापकता किस प्रकार होगी यह शंका करनेवाले परास्त हुए क्योंकि यहाँ आन्तरविकारहीसे स्वेद कथन हुआ ) जो मिथ्लात्मजा अर्थात् जानकी उसके सम्पूर्ण जो श्रम अर्थात् विकृत और अविकृत जो श्रम हैं उनको नेत्रप्रान्तके पातकरिके शिथिल करताभया । यह व्याख्या समीचीन नहीं क्योंकि यच्छब्दतच्छब्दको नित्य साकांक्षता होती है सो यच्छब्दका अध्याहार आवश्यक है सो नहीं किया इससे तच्छब्द साकांक्षही रहगया । यदि यहाँ तच्छब्दको प्रसिद्धार्थकता कहकरिके यच्छब्दसाकांक्षताका वारण कीर्णे

उत्थानाद्यक्षमत्वमालस्यम् । तत्र विभावा गर्भादयः ।  
अनुभावाः क्रियाकात्यादयः । यथा—

तो भी तच्छब्दको प्रसिद्धार्थकता माननेसे भी दोषपरिहार नहीं होगा । क्योंकि सहशब्दके योगमें तृतीया होती है सो यहां नहीं है । यदि कदाचित् येन ऐसे पदका अध्याहार करिके दोनों ही दोषके उद्धारकी इच्छा करोगे तो भी इस व्याख्यामें अपांग क्रियाका यह जो शब्दबोधमें आकांक्षा उसका पूरण नहीं है । और सुनो कि भाववस्तुको यत्नकी असाध्यता जिस प्रकार होती है इसही प्रकार यत्न करिके अनाशयताभी सम्पूर्ण आलंकारिकोंके अभिमत है । ऐसा हुआ तो सम्पूर्णश्रम शिथिल करदिये यह अर्थ भी योग्य नहीं । और सुनो कि इस व्याख्यामें श्रमको श्रमपदसे कहा इससे बमनाख्य दोषभी दुर्निवार्य है इस हेतु यह व्याख्या युक्त नहीं । इससे इस श्लोककी ऐसी व्याख्या करनी कि जिस रामचन्द्रके अपांगपातोंके साथ गई ऐसी ( यह कहनेका अभिप्राय यह है कि दृष्टिकरिके पवित्र जो स्थान तहां पादन्यास करना इस नीति शास्त्रके अनुसार जिस देशमें जानेके हेतु रामचन्द्रकी इच्छा हुई उस देशमें हमको श्रम नहीं है ) साथ जानेमें हमारा प्रतिषेध कोई मत करो यह मान करिके श्रमभावसूचनके बास्ते उस देशमें अगाड़ी होकरिके जानेवाला ऐसी ) इसही हेतु प्रस्वेदजालोंसे युक्त हैं पयोधर जिसके ऐसी ( यहां पयोधरमें जो स्वेद कहा उसका यह अभिप्राय है कि प्रस्वेद जहां होताहै तहां मस्तकको आरम्भकारिके होताहै यह रीतिहै । यहां स्तनमें प्रस्वेद कहा इससे मध्यम श्रम सीताको भया सो जानना ) फिर कैसी है सीता कि मिथिला नाम जो जनकपुरी उसका पति जो जनक सो भी मिथिल है उसकी पुत्री ऐसी सीताके सम्पूर्ण जो श्रम हैं अर्थात् मार्गकाठिन्यादिक उनको वह रामचन्द्र शिथिल करता भया । शिथिलकरनेका प्रकार 'पृथिव्यत्वं भव कोमला' इत्यादि श्लोकसे रसमञ्जरीमें कहाहै सो जान लेना । इस श्लोकमें श्रमका कारण जो मार्गकाठिन्यादि उसमें उपचारसे श्रमपद कहा सो जानना यहां मार्गगमनसे विभावित प्रस्वेदसे अनुभावित जो श्रम सो चर्णणा विश्रामस्थान है । अब आलस्यका लक्षण करते हैं । "उत्थान" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि उत्थानादिमें जो अक्षमता सो ही आलस्य है यहां यह शंका हुई कि पूर्वोक्त ग्लानिमें और वक्ष्यमाण जडतामें भी उत्थानादिकी अक्षमता है तो अतिव्याप्ति होगी । इसका समाधान यह है कि बलका समानाधिकरणत्व होनेसे और अवश्यकत्वव्यार्थपंतिसन्धानसमानाधिकरणत्व होनेसे क्रियामें उन्मुखताऽभाव जो है

हरं हरन्तं स्तनहारयष्टि करेण रोद्धुं न शशाक तावत् ।  
 गिरेः सुता गर्भवती विहस्य दृग्ब्रह्मं कातरयाच्चकार ॥ ११ ॥  
 दुरवस्था दुःखातिरेको वा दैन्यम् । अनौज्ज्वल्यमिति के-  
 चित् । तत्र, तस्य बहिर्विषयत्वेन तदनुभावकत्वात् ।  
 विभावा दारिद्र्यादयः अनुभावाः कायक्लेशक्षुत्पीडनादयः ।  
 यथा तातचरणानाम्-

अंसे कुन्तलमालिका स्तनतटे नेत्राम्भसां निम्रगा  
 माद्यन्मन्मथकुञ्जरेन्द्रवचनप्रान्ते विलग्ने मनः ।  
 किन्त्वन्यद्विरहानलेन सरसं संदद्यमानं वपु-  
 र्गण्डे पाण्डमकैतवेन सुतनोः फेनोच्चयं मुञ्चति ॥ १२ ॥

सो आलस्य है । ऐसा हुआ तो ग्लानिमें बलसमानाधिकरणत्व नहीं है और जड़-  
 तामें अवश्यकर्तव्यार्थ प्रतिसन्धान नहीं है, इससे इन दोनोंमें अतिव्याप्तिका  
 वारण होजायगा । इसके विभाव गर्भादिक हैं । अनुभाव क्रियामें कातरता इत्या-  
 दिक हैं । इसका उदाहरण “हरम्” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ  
 यह है कि गर्भयुक्त ऐसी जो पर्वतकी पुत्री पार्वती सो प्रेमातिशयसे  
 हँसकरिके दृग्ब्रह्म अर्थात् नेत्रकी रचनाको विवलित करती भई । परन्तु  
 स्तनहारलताको हरण करतेहुए जो शिव उनको हाथसे रोकनेको नहीं समर्थ  
 भई । यहां गर्भविभावित और दृष्टिरचनाके विवलनसे और हरनिरोधमें अप्रवृत्तिसे  
 अनुभावित जो आलस्य सो चर्वणाविश्रामस्थान है सो जानना ॥

अब दैन्यका लक्षण कहते हैं “दुरवस्था” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ  
 यह है कि दुरवस्था अर्थात् दुरवस्थासाध्य अन्तःकरणवृत्ति दैन्य ै । यदि दुर-  
 वस्थासाध्य अवस्थान्तर नहीं मानो तो दुःखको जो उत्कर्ष सो दैन्य है ।  
 शोकमें अतिव्याप्ति वारणके अर्थ अतिरेकपद दिया । कोई अनुज्ज्वलताको दैन्य  
 कहते हैं सो समीचीन नहीं, क्योंकि अनुज्ज्वलता वस्तु दुःखप्रकर्षरूप तो हो नहीं  
 सकता है, मालिन्यरूप अनौज्ज्वल्य हो सकता है परन्तु यह अनौज्ज्वल्य अन्तः-  
 करणका धर्म तो है नहीं किन्तु शरीरधर्म है इस हेतु यह अनौज्ज्वल्य दैन्यका  
 अनुभावरूप है सो जानना । इसको अनुभाव कहनेसे दैन्यके अनुभाव नहीं कहे  
 यह शंका करनेवाले परास्त होगये सो जानना । इसके विभाव शरीरको क्लेश,  
 क्षुधा, पीड़ा इत्यादि हैं । इसका उदाहरण “अंसे कुन्तल” इत्यादि श्लोकसे

चिन्ता ध्यानम् । ध्यै चिन्तायामित्यनुशासनात् । ध्यानं  
च न स्मरणात्मकम्, स्मृतिभावस्याग्रे पृथक्त्वेन कथनात्,  
किन्तु चित्तैकाग्रता । इष्टानामिप्रभृतयो विभावाः । अनु-  
भावास्तापैवर्ण्यबाष्पश्वासादयः । यथा-

शम्भुं ध्यायसि शैलराजतनये किञ्चाम जानीमहे  
तस्यैवाक्षितनूनपादिव तनौ तापः समुन्मीलति ।  
अक्षणोरश्रुमिषेण गच्छति बहिर्गङ्गातरङ्गावलिः  
पाण्डितः कपटेन चन्द्रकलिकाकान्तिः समुज्जृम्भते ॥ १३ ॥

कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि केशपाशबन्धनकी उपेक्षासे केशकी जो माला सो स्कन्धमें प्राप्त होगई है । और स्तनतटमें अशुजलकी नदी वहती है । यहाँ तटपदका जो ग्रहण किया सो नदीका भी पूरोत्कर्ष कहनेके निमित्त अतिशयोक्ति है । और तरुण जो कामदेव सोही हुआ गजेन्द्र ( यहाँ बिना देखकरिकै करना यह धर्म लेकरिकै कामदेवको गजेन्द्र कहा ) उससे उत्पन्न होनेसे उसका दशनरूप अर्थात् विषयकी असिद्धिप्रयुक्त दुःखात्मक बलवदनिष्ठकारणात् होनेते दन्तत्वकरिकै अध्यवसित जो मनोरथ उसके प्रान्तमें अर्थात् मुख्य हुःखकारणता होनेसे प्रान्तत्व करिकै अध्यवसित जो उस मनोरथका विषय वस्तु तहाँ मन जो है सो आसक्त है ( यह कहनेसे इच्छाका अनुरूप विषय किसकालमें होगा इस न्यायसे मनोरथभंग भी अनुभाव दिखाया ) और क्या कहते हैं सरस अर्थात् प्रेमार्द्द और विरहाग्रिसे जलताहुआ ऐसा जो सुन्दरीका शरीर सो गण्डस्थलमें पाण्डुताके छलसे केनसमूहको बाहर करता है । यहाँ विश्लेषणीडाविभावित और अनुज्ञल-तादिसे अनुभावित जो दैन्य सो चर्वणाविश्रामस्थान है । अब चिन्ताका लक्षण कहते हैं “ चिन्ता ” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि ध्यान जो है सो चिन्ता है इसमें ‘ध्यै चिन्तायाम्’ यह शास्त्रप्रमाण भी है । यहाँ कोई शंका करे कि स्मृतिमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वह भी ध्यानरूप है सो योग्य नहीं क्योंकि स्मृतिरूप व्यभिचारभाव आगे न्याराकरिकै कहा है इससे वहाँ ध्यान स्मरण किन्तु चित्तकी एकाग्रता जो है सोही ध्यान है । इसके विभाव इष्टकी अप्राप्ति और अनुभाव तापैवर्ण्यबाष्पश्वास इत्यादि हैं ॥ अब चिन्ताका उदाहरण “ शम्भुम् ” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है “ हे हिमाचलपुत्रि अर्थात् पार्वति ! शंभुका ध्यान करती अर्थात् अन्तःकरणमें

मोहो वैचित्यम् । मुह वैचित्य इति धातोमोहनं मोह  
 इति भावव्युत्पन्नो मोहशब्दः । वैचित्यं कार्याकार्या-  
 परिच्छेदः । तस्य विभावा भीत्यावेगानुचिन्तनादयः ।  
 अनुभावाः स्तम्भपातृष्ठानादर्शनविस्मरणादयः यथा-  
 अन्तःस्मेरसुवर्णकेतकदलद्रोणिद्विद्रोहिणीं  
 लक्ष्मीं वीक्ष्य समुद्दिन्दुवदनां क्षीराम्बुधेरुत्थिताम् ।  
 शम्भुः स्तम्भशताकुलः शतमखः कर्तव्यमूढेन्द्रियः  
 सोप्यज्ञानभुजङ्गपातपतितो जातस्त्रिलोकीपतिः ॥ १४ ॥

भी स्थापित करतीहो ( ऐसा अर्थ न करें ध्यानमात्रही कहें तो वमनाख्य दोष होजाय ) यह हम वितर्क करते हैं । और वैसाही जानते हैं क्योंकि उसही शंभुके नेत्ररूप अग्निके प्रकार उग्रतासे अग्नितरूपकरिके सम्भाव्यमान जो ताप सो शरीरमें उदयको प्राप्त होताहै । और नेत्रोंसे अश्रुपातके छलसे शिवकी ही गंगातंगावलि जो है सो बाहिर जातीहै । और पाण्डुताके छलसे चन्द्रकलाकान्ति जो है सो स्वच्छतासे प्रकाशित होती है । यहां इष्टानवासिविभावित और तापवैवर्ण्यादिसे अनुभावित जो चिन्ता सो चर्वणाविश्रामस्थान है । अब मोहका लक्षण कहते हैं । “मोह” इत्यादिवाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि वैचित्य जो है सो मोह है । ‘मुह’ धातु वैचित्य अर्थमें है यह व्याकरणशास्त्रमें है । इस धातुसे भावमें प्रत्यय करनेसे मोह शब्द होताहै, मोह वैचित्यरूप ही है । इसही मोहको मोहन भी कहते हैं । कार्य और अकार्यका जो अज्ञान सो ही वैचित्य है । इसके विभाव भीति अर्थात् भयका प्रसार अथवा भीति और आवेग और अनुचिन्तन अर्थात् उत्कट भयकी चिन्ता इत्यादिही और अनुभाव स्तम्भ और वूमना और आदर्शन, विस्मरण इत्यादि हैं । इसका उदाहरण “अन्तःस्मेर” इत्यादिश्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि अन्तःस्मेर अर्थात् विकसित ऐसी जो स्वर्णवर्ण केतकदलकी द्रोणी अर्थात् कलिका उसकी कान्तिका द्रोह करनेवाली अर्थात् तत्सद्शकान्तिमती ऐसी ( यह कहनेसे आतपसे स्पर्श नहीं है यह कहा ) और उदयको प्राप्त जो पूर्ण चन्द्र तत्सद्श है मुख जिसका ऐसी । और क्षीरसमुद्रसे उठी ऐसी ( यह कहनेसे कदाचित् भी किसीने देखी नहीं है यह कहा ) लक्ष्मीको देखकरिके ही महादेव जो हैं सो सुखकामनासे उत्पन्न जो असंख्य स्तम्भ उनसे युक्त होते भये । और इन्द्र जो है

संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः । संस्कारजन्यं ज्ञानं प्रत्य-  
 भिज्ञारूपं स्मरणरूपं च, संस्कारजन्यत्वेनोभयसंग्रहः ।  
 अन्यथा प्रत्यभिज्ञायाः पृथग्भावापत्तेः । प्रत्यभिज्ञास्मृ-  
 त्योर्विभावाः संस्कारोद्घोषकाः सदृशतादृष्टचिन्तायाः ।  
 अनुभावा भूसमुन्नयनादयः । प्रत्यभिज्ञा यथा-  
 कालिन्दीसरसः समेत्य नभसः क्रोडे परिक्रीडते  
 चक्रद्वन्द्वमिदं सुधाकरकलामाकम्य विस्फूर्जति ।  
 चन्द्रोऽपि स्मरचापचापलचमत्कारं समालम्बते  
 तस्मात्सैव कदम्बकुञ्जकुहरे राधा परिभ्राम्यति ॥ १९ ॥

**स्मृतिर्था--**

सो कर्तव्यतामें मुढ हैं इन्द्रिय जिसकी ऐसा होता भया अर्थात् धूमने लगा ।  
 और सर्वज्ञ भी जो त्रिलोकीपति ब्रह्मा सो अज्ञानरूप जो भुजंगपाश तामें पतित  
 होगये । ये सम्पूर्ण विस्मृतियुक्त होगये सो जानना । लक्ष्मीविषयकावेग-  
 विभावित स्तंभवृर्णनविस्मरणाऽनुभावित शंभु-शतमख-त्रिलोकीपतिनिष्ठ मोह चर्व-  
 णाविश्रामस्थान है सो जानना ॥

अब स्मृतिका लक्षण कहते हैं “संस्कार” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह  
 है कि उद्बुद्धसंस्कारसे उत्पन्न जो ज्ञान सो स्मृति है । ऐसा ज्ञान प्रत्यभिज्ञारूप  
 और स्मरणरूप होता है । तहाँ ‘तत्’ भागके संस्कारसहित और ‘इदम्’ भागके  
 लौकिकसन्निकर्षजन्य जो ‘तत्’ और ‘इदम्’ दोनोंका तादात्म्यज्ञान सो प्रत्य-  
 भिज्ञा है । और स्वविषय यावद्विषयक संस्कारजन्य ज्ञानसे स्मरण है । ऐसा हुआ तो  
 संस्कारजन्य यह कहनेसे दोनोंका संग्रह होगया, सो जानना । जो प्रत्यभिज्ञाका संग्रह न  
 करै अर्थात् संस्कारमात्रजन्य ज्ञान सो स्मृति कहें तो प्रत्यभिज्ञाको दूसरा व्याभिचारि-  
 भाव कहना पड़ेगा, इस हेतु दोनोंकाही संग्रह किया । संस्कारके उद्घोषक अर्थात्  
 प्रकाशक जो सदृश अदृष्टचिन्ता सो इसके विभाव जानना । और अनुभाव भूको  
 उन्नत करना इत्यादि हैं, सो जानना । अब प्रत्यभिज्ञारूप स्मृतिका उदाहरण  
 “कालिन्दीसरसः” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि यमुना-  
 सरोवरसे आकरिकै आकाशके समीपमें यह जो चक्रवाकका जोड़ा है सो क्रीडा  
 करता है । सो जो यह चक्रवाकका जोड़ा है सो चन्द्रकलाको आकर्मण करकै  
 अर्थात् उसकी कान्तिको जीतकरिकै शोभित होता है । चन्द्रमा भी कामदेवका

**वदनाम्बुजलग्न द्विपाते मयि वधत्यवतं समं समूले ।  
दरकुञ्जितदृष्टि राधिकायाः स्मितकिर्मीरितमाननं स्मरामि १६**

जो धनुष उसकी चपलताके चमत्कार अर्थात् रीतिको अबलम्बित करता है । (यह कहनेसे अर्धचन्द्रका अस्त जानेका समय व्यक्तित करते हैं । इस व्यङ्ग्यसे प्रातःकाल व्यक्तित होता है । इससे जिस प्रकार रात्रिवियुक्तचक्रवाक्युगलका परस्परसे आकरिके मिलाप हुआ है तिसहीप्रकार कदम्बकुञ्जमें संकेत करनेवाले कृष्णके साथ प्रातःकाल हमारा भी मिलाप होगा । इस हृदयके अभिप्रायसे राधाका कदम्बकुञ्जपरिभ्रमण कहते हैं ) इसही हेतुसे वो ही जो यह राधा अर्थात् जो राधा रात्रिमें वियुक्त रही सो ही राधा कदम्बकुञ्जके बनमें प्रियके आगमनके अभिप्रायसे सम्यक्षप्रकार भ्रमण करती है, यह सखीके प्रति सखीने कहा है । यहां पूर्वपूर्व अनुभूत जो चक्रवाकादि उसका जो उत्तरोत्तर अनुभवीकरण सो ही प्रत्यभिज्ञा है वही प्रत्यभिज्ञा चमत्कार विश्रामस्थानतासे प्रतीत होती है । पक्षान्तरव्याख्या—इयामतारूप यमुनात्वधर्मसे आरोपित जो रोमावलि सोही हुई कालिन्दी सो सरोवर जो हुवा नाभि सरोवरधर्म वर्तुलाकारता और गम्भीरता सो नाभिमें भी है इस हेतु सरोवरसे अधिरोपित नाभि समझना चाहिये । उस सरोवरसे उत्पन्न होकरिके आकाशके तटमें अर्थात् अत्यन्त कोमलतासे आकाशत्व करिके अध्यवसित जो मध्यमभाग उसके भीतर खेलती है । और यह जो चक्रद्वंद्व अर्थात् गोलाकारतासे चक्रद्वंद्वत्वकरिके अध्यवसित जो कुचयुग सो चन्द्रमाकी जो कला अर्थात् कुटिलत्वधर्मकरिके चन्द्रकलात्वकरिके अध्यवसित जो नखक्षतताको प्राप्त होकरिके शोभित होता है । और चन्द्र जो है अर्थात् आहादकत्वधर्मकरिके चन्द्रत्वसे अध्यवसित जो मुख सो भी स्मरचाप अर्थात् कुटिलत्वधर्मकरिके चापत्वसे अध्यवसित जो भुकुटी उसका जो चपलतारूप क्रियाविशेष उससे जो चमत्कार अर्थात् शोभातिशय उसको प्राप्त होते हैं । इस हेतुसे अर्थात् उस राधा विना इन सम्पूर्ण वस्तुओंका संमिलन असंभावित है इससे वोही जो राधा अर्थात् बहुत कालपर्यन्त जिसका अबलोकन किया रहा, सो ही राधा कदंबनिर्मित जो कुञ्ज अर्थात् मण्डप उसके भीतर स्थित है । यहां चिन्तासहकृतताद्वासंस्कारसंनिकर्षविभावित और गम्यमुखविकासाद्यनुभावित जो प्रत्यभिज्ञा सो चर्वणाविश्रामस्थान है । अब स्मरणरूपा स्मृतिका उदाहरण “वदनाम्बुजे” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि कृष्ण अपने मित्रसे कहते हैं कि राधिकाका मुखरूप जो कमल उसमें लगा है दृष्टिका पतन जिसका ऐसा जो मैं सो बाहुमूलमें कर्णभूषणका बन्धन करतसन्ते किञ्चित् संकुचित हैं नेत्र जिसमें

धृतिः सन्तोषो दुःखेष्यदुःखबुद्धिर्वा । विभावा ज्ञानश-  
क्त्यादयः । अनुभावा अव्ययभोगादयः । यथा--

भूषा भस्मरजांसि वेशम विपिनं वृद्धो वृषो वाहनं  
चैलं चर्म तथाऽपि मन्मथरिपोभोगः किमु भ्रश्यति ।

ईशत्वं किमु हीयते किमु महादेवेति नो गीयते  
किं वा तस्य च देवदेव इति वा संज्ञा जनैस्त्यज्यते॥ १७॥

ऐसा और ईषत्वास्यसे विकसित जो राधिकाका मुख उसका मैं स्मरण करताहूँ । यहां मुखरूप कमलका संबन्धी जो नेत्र उसमें भ्रमरत्वका सूचन किया । यहां स्मरणसे विलक्षण ज्ञान समझना । यहां चिन्तासे उद्बुद्ध जो संस्कार उससे विभावित और गम्य जो भूको नमाना उससे अनुभावित् जो स्मृति सो चर्वणाविश्रामस्थान है ।

अब धृतिका लक्षण कहते हैं । “धृतिः” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि सन्तोष अर्थात् इच्छाकी जो पूर्ति सो धृति है । यह जो इच्छाकी पूर्ति सो लाभसे ही होती है और भय, शोकसे नहीं होती है इस देतु भय, शोकसे उत्पन्न जो धृति है, तत्साधारण लक्षणान्तर कहते हैं कि दुःखदेनेवाली वस्तुमें जो अदुःखबुद्धि अर्थात् अनिष्टाजनकत्वज्ञान सो ही धृति है । यहां इष्टकी विरोधी जो देवविषयक वस्तु सो और इष्टहानि ये दोनों ही अनिष्टशब्दसे जानलेनें । इसके विभाव ज्ञानमें सामर्थ्य इत्यादि हैं । और अनुभाव दुःख विना भोग लेना इत्यादि जानना । अब इसका उदाहरण “भूषा भस्मरजांसि” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि यद्यपि भूषण कहिये अंगराग जो भस्मके रज हैं सो सर्व-शुलभ हैं । और बदुवित्तके व्यय और परिश्रमसे साध्य जो कस्तूरीचन्दनादि सो अंगराग नहीं है, तथापि महादेवका भोग अर्थात् मुखानुभव भ्रष्ट होताहै क्या ? अपि तु नहीं होताहै । और यद्यपि घर बन है सो स्वतःसिद्ध है कष्टसाध्य जो महल इत्यादि सो घर नहीं है तथापि महादेवकी ईशता अर्थात् जगत्का नियमन करना सो क्या हीन होताहै ? अपि तु नहीं होताहै । और महादेवका वाहन वृद्ध वृषभहै अर्थात् अज्ञात है जन्मभूमि जिसकी ऐसा नंदिकेश्वर है, उच्चैःश्रवा नहीं है तथापि जनोंसे महादेव अर्थात् सकलश्रेष्ठ ऐसा नहीं कहा जाताहै क्या ? अपि तु कहा ही जाताहै । और यद्यपि वस्त्र गजचर्म है और अमूल्य जो शारी आदि सो नहीं है, तथापि महादेवकी जो देवदेव यह संज्ञा अर्थात् साम्राज्यलक्ष्मी-सम्पन्न ऐसा जो नाम सो मनुष्योंसे त्याग किया जाताहै क्या ? अपि तु नहीं त्याग

स्वच्छन्दक्रियासंकोचो ब्रीडा । न च शंकायां त्रासे चाति-  
व्याप्तिस्तत्रतत्र क्रियाविरह एव न तु क्रियासंकोचः ।  
अत्र विभावा दुराचारादयः । अनुभावाः शिरोनमनवदन-  
नयनप्रच्छादनादयः । यथा अयोध्यावर्णने--

भित्तौभित्तौ प्रतिफलगतं भालसिन्दूरबिन्दुं  
दृष्टादृष्टा कमलनयना केलिदीपत्रमेण ।

कान्ते चैल हरति हरितं लोलमालोकयन्ती  
गात्रं प्रच्छादयति सहसा पाणिपंक्तेरुहेण ॥ १८ ॥

इतरेतरक्रियाकरणं क्रियायाः शीघ्रता वा चपलता । मात्स-  
र्यद्वेषरागादयो विभावाः । अनुभावा वैरिदर्शनवाक्पारु-  
ष्यप्रदारादयः । यथा-

क्रिया जाताहै । यहां गम्य जो विवेक उससे विभावित और चपलताकी शान्तिसे  
अनुभावित जो धृति सो चर्वणाविश्रामस्थान है । अब ब्रीडाका लक्षण कहतेहैं  
“स्वच्छन्द” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि स्वतन्त्र जो क्रिया उस क्रियाके  
संकोचमें कारणीभूत जो चित्तवृत्ति सो ब्रीडा है । ऐसा कहनेसे ब्रीडाको  
आन्तरत्व समझा जाताहै । कोई कहताहै कि क्रियाविरहप्रयोजक जो चित्तवृत्तिविशेष  
सोही ब्रीडा क्यों नहीं मानतेहो ? यह कथन युक्त नहीं, क्योंकि ऐसा कहैं तो शंकामें  
और त्रासमें अतिव्याप्ति होगी । क्योंकि वहां भा क्रियाविरह है । हमारे लक्षणसे  
वहां अतिव्याप्ति नहीं होती है, क्योंकि शंका वा त्रासमें क्रियाका अभावही है  
संकोच नहीं है । इसके विभाव दुराचारादिक हैं । अनुभाव शिरको नीचा करना  
और वदन, नयन इनका ढकना इत्यादिक हैं । अब ब्रीडाका उदाहरण “भित्तौ  
भित्तौ” इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि अयोध्यावर्णनमें सखीके  
प्रति सखीकी उक्ति है कि जिस अयोध्या नगरीमें भित्ति भित्तिमें प्रतिविम्बको  
प्राप्त जो आपकी मूर्ति उसके मस्तकमें जो सिन्दूरबिन्दु उसको देख देख करिके  
जो सुरतकीडामें दीपिकोंका ध्रम उससे प्रकाशित जो कमलनयना सो सहसाही  
शीघ्रही नायक जो है सो हरितवस्त्रको हरण करत सन्तैं चश्वल जैसे होय तैसे  
देखती हुई, सर्वप्रकारसे हस्तकमलसे शरीरको आच्छादित करतीहै । यहां नायकके  
दर्शन और उसके दुराचारसे विभावित, अङ्गके ढकनेसे अनुभावित जो ब्रीडा सो  
चर्वणाविश्रामस्थान है । अब चपलताका लक्षण कहते हैं “इतरेतर” इत्यादि

१ परितः इति पाठान्तरम् ।

लंकाचारिणि सेतुकारिणि रणक्रीडाचमत्कारिणि  
प्रौढानन्दवचःप्रसारिणि पुरो रामे धनुर्धुन्वति ।

जातास्तस्य दशाननस्य समरप्रारम्भदम्भस्फुरत् -  
केयूरकणिताऽनुमेयविशिखत्यागाः करथ्रेणयः ॥ १९ ॥

चेतःप्रसादो हर्षः । प्रियदर्शनपुत्रजननादयो विभावाः ।  
अनुभावाः पुलकस्वेदाशुस्वरभेदादयः । यथा--

पुलकितकुचकुंभपालि राधा ब्रजति मुकुन्दमुखेन्दुवीक्ष-  
णाय । विरचयति न मध्यभंगभीतिं गणयति नाऽपि  
नितम्बगौरवाणि ॥ २० ॥

वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि अव्यवधानसे जो दो तीन क्रियाओंको करना  
अथवा क्रियामें जो शीघ्रता अर्थात् क्रियाकी शीघ्रतामें नियामक जो विजातीय  
अन्तःकरणवृत्ति सो चपलता है । इसके विभाव मत्सरता और द्वेष और अनुराग  
इत्यादि हैं । और अनुभाव वैरीका दर्शन अर्थात् शत्रुको हेरना और वचनमें कठो-  
रता और प्रहार इत्यादिक हैं । अब इसका उदाहरण कहते हैं “लंकाचारिणि”  
इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि लंकाके सम्मुख जानेमें शीलयुक्त और सेतु-  
का बन्धन करनेवाले और संग्राममें जो क्रीडा उसमें चमत्कारयुक्त और स्वकीय  
उत्साहसे उत्साहित जो वचन अर्थात् सिंहनादादि उसका उदाष करनेवाले ऐसे  
जो राम सो अगाड़ी धनुषको धुन्वति अर्थात् प्रत्यञ्चाकर्षणसे टण्टकारशब्दयुक्त  
करत सन्ते वह अर्थात् त्रिलोकीका जीतनेवाला भी रावण उसके जो वीस हाथ हैं  
सो संग्रामके आरम्भमें जो दम्भ अर्थात् वीरथ्रेष्ठताका अभिमान उससे शोभायमान  
जो केयरोंका शब्द उससे अनुमान करनेके योग्य है बाणोंका त्याग जिनसे ऐसे  
होते भय । यहां धनुर्धर्वनिसे समुद्दीपित जो मात्सर्य उससे विभावित और संपूर्ण  
भुजाओंसे जो प्रहार उससे अनुभावित जो चपलता सो चर्वणाविश्रामस्थान है ।

अब हर्षका लक्षण कहते हैं “चेतःप्रसादः” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ  
यह है कि चितकी जो प्रसन्नता अर्थात् प्रसन्नताका हेतु सुख सो हर्ष है ।  
यह कहनेसे हर्षको आन्तरत्व हुआ सो जानना । इसके विभाव प्रियका दर्शन  
अर्थात् ज्ञान और पुत्रोत्पत्ति इत्यादि हैं । और अनुभाव रोमाञ्च, प्रस्वेद, अश्रु  
स्वरभेद इत्यादि हैं । इसका उदाहरण “पुलकित” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं ।

आकस्मिक इष्टानिष्टोपपातविवर्तः संभ्रमो वा आवेगः ।  
 वैरिदर्शनप्रियश्रवणोत्पातादयो विभावाः । अनुभावास्त्व-  
 राशरीरस्खलनविपर्यासादयः । यथा-  
 एको वाससि विश्लथे सहचरीस्कन्धे द्वितीयः करः ।  
 पश्चाद्गच्छति चक्षुरेकमितरद्वर्तुर्मुखे भ्राम्यति ।

एकं कण्टकविद्धमस्ति चरणं निर्गन्तुमुत्कण्ठते  
 चान्यद्वैरिमृगीदशां रघुपतेरालोक्य सेनाचरान् ॥ २१ ॥

इलोकार्थ यह है कि राधा जो है सो आहादकतासे कृष्णका मुखरूप जो चंद्रमा (यहां मुखको चन्द्रमा कहनेसे नेत्रको चकोरत्व ध्वनित होनेसे उत्कण्ठा व्यञ्जित होती है) उसके देखनेके अर्थ जाती है। किम प्रकार कि पुलकित अर्थात् रोमाश्रयुक्त है कुचरूप कुंभका मण्डल जिस कियामें जैसे होय तैसे, इस समयमें मध्यशरीरके भंगका जो डर उसकी गणना नहीं करती है। और नितंबकी जो गुरुता है उसको भी नहीं गिनती है, अर्थात् ध्यानही नहीं करती है। यहां गम्य जो प्रियसमागमश्रवण उससे विभावित और पुलकादिसे अनुभावित जो हर्ष सो चर्वणाविश्रामस्थान है। अब आवेगका लक्षण कहते हैं “आकस्मिक” इत्यादिवाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि आकस्मिक अर्थात् विना कारण जो इष्टका वा अनिष्टका आजाना सो है मुख्य कारण जिसका ऐसा जो मनोविकार सो आवेग है परन्तु ऐसा आवेग कहनेसे जडतामें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि जडतारूप मनोविकार भी आकस्मिक इष्टानिष्टोपपातसे ही होता है। इस हेतु दूसरा लक्षण कहते हैं, कि संभ्रम अर्थात् साध्वससे जो प्रवृत्ति सो आवेग है। इसके विभाव वैरीका देखना और प्रियवातका श्रवण और उत्पात इत्यादि हैं। (यहां दर्शनश्रवणसे ज्ञानमात्र समझना) और अनुभाव शीघ्रता और शरीरका गिरना और विपर्यास अर्थात् जो वस्तु नहीं रहे उस वस्तुमें जो अन्यथाबुद्धि सो इत्यादि हैं। अब इसका उदाहरण “एको वाससि” इत्यादि इलोकसे कहते हैं। इलोकार्थ यह है कि रामचन्द्रकी सेनामें विचरनेवाले वानरोंको देखकरिके वैरी जो राक्षस उनकी मृगीनेत्रसदृशनेत्रयुक्त स्त्रियोंका एक हाथ सो पड़तेहुए वस्त्रपर है और दूसरा सखीके कांधेपर है। और एक नेत्र पिछाड़ी देखता है दूसरा भर्ताके मुखमें भ्रमण करता है अर्थात् पतिके मुखको बारम्बार देखता है। और एक पग कांटेसे बिंधाहुआ है। दूसर

सकलव्यवहाराक्षमज्ञानवत्ता जडता । न च मूर्छापस्मारनि-  
द्रास्वप्नेष्वतिव्याप्तिस्तत्र ज्ञानविरहात् । न चालस्यभीति-  
त्रासेष्वतिव्याप्तिस्तत्र कृतिपयव्यवहारस्य सत्त्वात् । इष्टा-  
निष्टदर्शनादयो विभावा अनुभावा अनवभाषणनिर्निमेष-  
प्रेक्षणेष्टानिष्टापरिच्छेदादयः । यथा-

दुष्पारवारिनिधिपारमुदारवीर्य-

मागच्छतो हनुमतो हसित वितेनुः ।  
उद्बीक्ष्य नीरनिधिनीरमधीरवीर्चिं

चित्रार्पिता इव पुनः कपयो बभूवुः ॥ २२ ॥

जानेको इच्छा करताहै । यहां वैरिदर्शनसे विभावित और शीघ्रता, स्वल्पनसे अनुभावित जो आवेग सो चर्वणाविश्रामस्थान है । अब जडताका लक्षण कहते हैं “सकल” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि कार्य और अकार्य इसका जो विचाररूप ज्ञान उससे भिन्न जो ज्ञान उसकी जो आश्रयता सो जडताहै । यत्किञ्चिद्विषयक जो विचार उससे भिन्न जो ज्ञान उसकी आश्रयताको जडता कहें तो आलस्य, भीति, त्रास इनमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि ऐसा ज्ञान यहां भी है, इस हेतु सकल पद दिया, तो सकल विवेकसे भिन्न ज्ञान आलस्यादिमें नहीं है क्योंकि वहां कुछ विचार रहताही है इससे अतिव्याप्ति नहीं हुई । विवेकसे रहितत्व ऐसा जडताका लक्षण कहें तो मूर्छा, अपस्मार, निद्रा स्वप्न इनमें अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वहां भी विवेकसे रहितत्व है । इस हेतु प्रकृत लक्षण किया तो यहां’ अतिव्याप्ति नहीं हुई, क्योंकि यहां ज्ञानका ही अभाव है इस हेतु वहां सकलविषयकविवेकभिन्न ज्ञानकी आश्रयता नहीं रहेगी । यद्यपि स्वप्नमें ऐसा ज्ञान रहताहै तथापि इस लक्षणमें मानसभिन्न ज्ञान लियाजाताहै । तो स्वप्नमें ज्ञान है सो मानस है इस हेतु अतिव्याप्ति नहीं होगी । इसके विभाव इष्टज्ञानसहित जो अनिष्टज्ञान इत्यादि हैं । यहां साहित्यसे इष्टज्ञान वा अनिष्टज्ञानकी एक स्थानमें स्थिति जाननी । अथवा इष्टज्ञानरूप अनिष्टज्ञानको इष्टज्ञानसहित अनिष्टज्ञान कहते हैं यह कहनेका अभिप्राय यह है कि इष्ट अनिष्ट दोनों विषयक एक ज्ञान जडताका विभाव है । और अनुभाव भाषणका अभाव, विना निमेष ज्ञानका इष्टानिष्टका ज्ञान न होना इत्यादि हैं । अब इसका उदाहरण “दुष्पार” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि जो

आत्मनि सर्वाधिकत्वबुद्धिः, सर्वस्मिन्नधमबुद्धिर्वा गर्वः ।  
 बलेश्वर्याभिजनलावण्यादयोविभावाः।अनुभावा अवज्ञाभ्रू-  
 दृष्टिचेष्टितहसितपौरुषप्रकाशादयः।यथा परशुरामवाक्यम्-  
 निष्पीते कलशोद्धवेन जलधौ गौरीपतेर्गङ्गया  
 होतुं हन्त वपुर्ललाटदहने यावत्कृतः प्रकमः ।

कपि अर्थात् वानर जे हैं ते दुःखकरिके प्राप्त होनेके योग्य है पार जिसका ऐसा जो समुद्र उसके तीरके प्रति 'उदारवीर्यम्' अर्थात् प्रकटीभूत है वल जिस क्रियामें जैसे होय तैसे आतेहुए हनुमानसे हसितको विस्तारित करते भये । सो ही वानर अधीर अर्थात् चश्चल हैं तरंग जिसमें ऐसे समुद्रके जलको देख करिके तो चित्रार्पितकी तरह अर्थात् निश्चेष्टासे बुद्धिके विषय होते भये । यहाँ हनुमान् और समुद्रका जल दोनोंके दर्शनसे विभावित और निश्चेष्टासे अनुभावित जो जडता सो चर्वणाविश्रामस्थान है ॥

अब गर्वका लक्षण कहते हैं "आत्मनि" इत्यादिवाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि आपमें जो सबसे अधिकता बुद्धि अर्थात् म सबसे अधिक हूँ ऐसी प्रतीति सो गर्व है । अथवा सम्पूर्ण जगत्में जो आपसे अधमताबुद्धि अर्थात् हमारी अपेक्षा सब अधम हैं ऐसी प्रतीति सो गर्व है । यहाँ यह विचार करना चाहिये कि आपमें सबकी अपेक्षासे अधिकताबुद्धि रहनेपर सबमें आपकी अपेक्षा अधमताबुद्धि भी अर्थसिद्ध है किर दूसरा लक्षण कहना योग्य नहीं इसही रीतिसे सम्पूर्णमें अधमताबुद्धि रहनेपर आपमें अधिकताबुद्धि अर्थसिद्ध है । ऐसे भी दूसरा लक्षण नहीं करना चाहिये । ऐसा दुआ तो दो लक्षणमें तात्पर्य नहीं समझना चाहिये किन्तु एकही लक्षणमें तात्पर्य समझना चाहिये, अर्थात् प्रथम लक्षण कहो किंवा द्वितीय लक्षण कहो इसमें आग्रह नहीं । जब एकही लक्षण होगा तब वाशब्दका प्रयोग व्यर्थ होजायगा इस हेतु समानबलमें विरोधरूप जो विकल्प सो गर्व है यह वाशब्दार्थ है ऐसा वाशब्दका अर्थ न कहें तो दोका जो एक स्थानमें निवेश किया है तहाँ एक व्यर्थ होजायगा तो वाकार निरर्थक होजायगा सो जानना । इसके विभाव बल, ऐश्वर्य, कुलीनता, लावण्य इत्यादि हैं और अनुभाव अनादर और भ्रू तथा नेत्रकी चेष्टा और हँसना और पौरुषका प्रकाश इत्यादि हैं । इसका उदाहरण "निष्पीते" इत्यादि क्षोकसे कहते हैं । क्षोकार्थ यह है कि परशुराम कहते हैं कि अगस्त्यमुनिके समुद्र पानिपेर गंगाने महादेवके अग्निरूप तृतीय नेत्रमें शरीरको हवन करनेको जबतक उद्योग किया तब तक मैंने समुद्रप्रदेशमें शत्रुओंकी नगरीकी जो स्थियाँ

तावत्तत्र मया विपक्षनगरीनारीहगम्भोरुह-

द्वन्द्वप्रस्खलदश्चुवारिपट्लैः सृष्टाः पयोराशयः ॥ २३ ॥  
 इष्टसंशयोऽनिष्टजिज्ञासा वा विषादः। इष्टपदेन जीवनधन-  
 यशः शरीरपुत्रकलत्रादयः। विभावा अपराधधनगमनादयः।  
 अनुभावा उत्तमानां सहायान्वेषणोपायचिन्तादयः, मध्य-  
 मानां विमनस्कता, अधमानामिष्टध्यानधावनमुखशोष-  
 निद्राश्वासादयः। यथा-

प्रत्यावृत्त्य यदि व्रजामि भवनं वाचां भवेत्प्रच्यवो  
 निर्गच्छामि निकुञ्जमेव यदि वा को वेद किं स्यादितः।  
 तिष्ठाम्येव यदि क्वचिद्दनतटे किं जातमेतावता  
 मध्ये वर्त्म कलानिधेः समुद्रयोजाताः किमातन्यताम् २४॥

उनके नेत्ररूप कमलयुगलसे पड़ता हुआ जो अश्रुरूप जल उसके समूहोंसे  
 समुद्र सृजदिये । यहां बैलश्यर्यादिसे विभावित पौरुषप्रकाशाऽनुभावित जो गर्व  
 सो चर्वणाविश्रामस्थान है । अब विषादका लक्षण कहते हैं “ इष्टसंशयः ”  
 इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि इष्टका संशय अथवा अनिष्टका  
 विचार सो विषाद है । यहां वाशब्दका यह अर्थ है कि दोनोंमें अन्यतर  
 एक लक्षण समझना । यहां इष्ट पदसे इच्छाविषयमात्रका ग्रहण है । ऐसा  
 हुआ तो इष्टपदसे जीवन, धन, यश, शरीर, पुत्र, कलत्रादि संपूर्ण इच्छा  
 विषय जानना । इसके विभाव राजा वा गुरु इनका अपराध और धनका  
 जाना इत्यादि हैं । और अनुभाव उत्तम पुरुषोंका सहायान्वेषण अर्थात् हमारा  
 कौन सहाय करेगा ऐसे सहायका हेरना और उपाय अर्थात् हेतुकी चिन्ता करना  
 है । और मध्यम पुरुषोंका विमनस्कता अर्थात् अप्रसन्नता है । और वधम  
 पुरुषोंका इष्टका ध्यान और धावन अर्थात् गमन मुखका शोष और निद्रा और  
 श्वास इत्यादि हैं । अब इसका उदाहरण “ प्रत्यावृत्त्य ” इत्यादि श्लोकसे कहते  
 हैं । श्लोकार्थ यह है कि कृष्णाभिसारिकाका वचन है कि मार्गके मध्यमें चन्द्र-  
 माका उदय होगया अब क्या करिये । यदि उलट करिके घरको जातीहूं तो  
 वचनका प्रच्यव अर्थात् प्रतिज्ञाहानि होजावे ( अवश्य मैं आजँगी यह जो कान्तके  
 प्रति वचन सो [मिथ्या होजायगा ] और यदि इस स्थानसे निकुञ्जहीको

ओत्सुक्यं कालासहिष्णुता सकलेन्द्रियाणामेकदैव क्रिया-  
रम्भो वा । प्रियसंस्मरणादयो विभावाः । अनुभावास्त-  
न्द्रागात्रगौखादयः । यथा-  
आद्यः कैरपि केलिकौतुकमनोराज्यौद्दितीयः पुन-  
र्मल्लीकेसरचारुचम्पकनवाम्भोजसजां गुम्फनैः ।  
काश्चीकुण्डलहारहेमवलयन्यासैस्त्रृतीयस्ततो  
नीतः सुन्दरि वासरस्य चरमो यामः कथं यास्यति ॥२६॥

जाँ तो क्या अनर्थ होय यह बातको न जानता है अर्थात् कोई नहीं जानता है । मैं तो अत्यन्तही नहीं जानती हूँ । यदि इन दोनों स्थलोंसे भिन्न जो कोई बनतट है तहां उक्त दोनों स्थलोंके संकटसे उदासीनताको प्रांत होकरिकै ठहर जातीहूँ तो इससे क्या होगा ? अपितु कुछ नहीं होगा । इस पदका अभिप्राय यह है कि इष्टकी अप्राप्ति और अनिष्टकी प्राप्ति दोनों स्थित ही रहीं । यहां अभिसरणरूप अपराधसे विभावित और अनिष्टनिवारणचिन्तासे अनुभावित जो विषाद सो चर्वणाविश्रामस्थान है । अब ओत्सुक्यका लक्षण कहते हैं “ओत्सुक्यम्” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि प्रियप्राप्तिमें विलम्ब मत हो ऐसी जो इच्छा सो ओत्सुक्य है । अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंका एककालमें ही जो व्यापार उसकी जो उत्पत्ति सो होय जिससे ऐसी जो वह, सो हमको इसही समय प्राप्त होय इस इच्छाके अनुरूप अन्तःकरणवृत्ति सो ओत्सुक्य है । इसके विभाव प्रियका स्मरणादिक हैं । और अनुभाव तन्द्रा और शरीरकी गुरुता इत्यादि जानना ।

इसका उदाहरण “आद्यः कैः” इत्यादि श्लोकसे अहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि हे सुन्दरि ! अर्थात् हे सखि ! दिनका प्रथम प्रहर जो है सो तो कोई अर्थात् हममात्रका प्रत्यक्षविषय जो केलिकौतुकमनोराज्य अर्थात् कीड़ाका जो चमत्कार उसके जो मनोरथ उनसे व्यतीत किया । और द्वितीय प्रहर मल्ली जो मालती उसका जो केसर अर्थात् पुष्प और सुन्दर चम्पा और नवीन जो कमल इनके जो हार उनके गूंथनेसे व्यतीत किया । और तृतीय प्रहर कमरमें कणगती और कानमें कुण्डल और वक्षःस्थलमें हार और हाथोंमें सुवर्णके कंकण इनके स्थापनसे व्यतीत किया । अब चतुर्थ प्रहर किस प्रकार व्यतीत होंगा ? अर्थात् अब

इतरदिन्द्रियमपहाय मनस्त्वचि यदा वर्तते तदा निद्रा ।  
 सुप्तस्य कारणत्वात्सुप्तात्प्राङ् निद्रा भरतेनोक्ता । स्वप्नवह-  
 नाडिकायां मनो यदा वर्तते तदा स्वप्नादिसम्भवः । तत्र  
 विभावाः स्वभावचिन्ताऽलस्यक्लमादयः । अनुभावाः  
 पार्श्वकरणनयनभ्रूचलनविभ्रमवचनस्वप्रदर्शनादयः । यथा-  
 गच्छन्कच्छं तपनदुहितुः पिच्छगुच्छावतंसः

पश्यन्नस्मद्ददनमसकृचक्षुषा कुञ्चितेन  
 खिञ्चापाङ्गः शिथिलचरणः स्तोकविस्पष्टहासः  
 स्वप्ने हृष्टः कमलकलिकामण्डनो मेघखण्डः ॥ २६ ॥

कोई प्रसङ्ग नहीं है । यह कहनेसे चिन्ता व्यञ्जित की । यहां व्यंग्य जो  
 प्रियसमागम और उससे विभावित गात्रगौरव तथा चिन्तासे अनुभावित जो  
 औत्सुक्य सो चर्वणाविश्रामस्थान है ।

अब निद्राका लक्षण कहते हैं “इतरदिन्द्रियम्” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह  
 है कि और इन्द्रियोंका त्याग करिकै मन जो है सो त्वचामें जिस समय जाता है  
 उस समयका जो अन्तःकरणवृत्तिविशेष सो निद्रा है । यह निद्रा सुप्तका कारण है  
 इस हेतु सुप्तरूप व्यभिचारिभावसे पहले भरत मुनिने इसका कथन किया है ।  
 इसही निद्रामें स्वप्नवहनाडिकामें जब मन चला जाता है तब स्वप्नका संभव  
 होता है । इसके विभाव स्वभाव अर्थात् तामस और चिन्ता और आलस्य और  
 ग्लानि इत्यादि जानना । और अनुभाव पार्श्वकरण अर्थात् शरीरको पलटना और  
 नेत्र, भू इनका चलाना और भ्रमयुक्त वचन और स्वप्रदर्शन इत्यादि जानना ।  
 इसका उदाहरण “गच्छन्कच्छम्” इत्यादि क्षोकसे कहते हैं । क्षोकार्थ यह है  
 कि सखीके प्रति राधाका वचन है कि हे सखि ! मैंने कमलकी कलीसे शोभित  
 जो मेघखण्ड अर्थात् घनसमूह उसको स्वप्नमें देखा । कैसा है वह मेघखण्ड सों  
 कहते हैं कि यमुनाके तटको जाताहुआ ऐसा, और मयूरके जो पंख उनका जों  
 समूह सो है आभूषण जिसका ऐसा, और वारम्बार कुठिल नेत्रसे मेरे वदनकों  
 देखता हुआ ऐसा, और मेमयुक्त है कटाक्ष जिसका ऐसा, और आलस्य युक्त है  
 चरणकमल जिसका ऐसा, और अल्प जैसे होय तैसे प्रकट है हास जिसका ऐसा ।  
 यहां चिन्तासे विभावित और स्वप्रदर्शनसे अनुभावित जो निद्रा सो चर्वणा-

ग्रहाद्यावेशोऽपस्मारस्तत्र विभावाः । अपाविज्यशून्यगृह-  
स्थितिधातुवैपम्योत्कटदुःखभयादयः अनुभावाः । कम्पफे-  
ननिःश्वासभूपतनविपर्यासजिह्वालोलनादयः । यथा-

उद्गेलन्नवप्लुवाधररुचः पर्यस्तशाखाभुजाः

स्फूर्जत्कोरकफेनबिन्दुपटलव्याकीर्णदेहश्रियः ।

आम्यदृढ़ज्ञकलापकुन्तलज्ञषः श्वासानिलोत्कम्पिताः

शलं प्रेक्ष्य कपोर्निपातितमपस्मारं दधुर्भूरुहाः ॥ २७ ॥

मूर्च्छा चात्रैवान्तर्भवति । त्वचमपि विहाय मनः पुरीततीं  
वर्तते तदा सुसम् । निद्रा विभावः । अनुभावा नेत्रनि-  
मीलनप्रलयश्वासोच्छ्वासादयः । यथा-

विश्रामस्थान है अब अपस्मारका लक्षण “ग्रहाद्यावेशः” इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि भूतके सञ्चारादिसे उत्पन्न जो व्याधिविशेष सो अपस्मार है इसके विभाव अपवित्रता और शून्यघरमें स्थिति और धातुकी विषम अवस्था और अधिक दुःख इत्यादि हैं । अनुभाव कम्प, झाग, निःश्वास, पृथिवीमें पड़ना, भ्रान्ति, जिह्वाकी चश्चलता इत्यादि हैं । इसका उदाहरण “उद्गेलन्” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि इधर उधर चलते हुए जो नवीन यत्ते वे ही हैं । अधरोष्टसदृश जिनके ऐसे, और प्रसारित जो शाखा सोही हैं बाहु जिनके ऐसे, और प्रकाशमान जो कलियां वेही हुआ झागजल उसके समूहसे व्याप है देहकी कान्ति जिनकी ऐसे, और विश्वरे हुए जो भ्रमर उनका जो समूह सोही हुआ केशपाश उससे युक्त, और श्वासरूप वायुसे उत्कृष्टकम्पयुक्त ऐसे जो द्रोणाचलके वृक्ष वे कपिके पाससे भरतने पटक्या ऐसे पर्वतको देखकरिके अपस्मार जो उच्चैःपतन उसको धारण करते भये । यहां पर्वतमें आरोप्यमाण जो दुःख उससे विभावित और वास्तविकभूनिपातसे अनुभावित ऐसा जो आहार्यरोप विषयीभूत अपस्मार सो चर्वणाविश्रामस्थान है ॥ मूर्च्छा पृथक् व्यांभिचारिभाव नहीं है किन्तु अपस्मारका ही नाम है सो जानना ।

अब सुसका लक्षण कहते हैं “त्वचमपि” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि त्वचाका भी त्याग करिकै जब मन पुरीततीनामकी नाड़ीमें स्थित होता है वह ही जो पुरीततीनाड़ीका और मनका संयोग सो सुस है । इसका विभाव निद्रा है और

श्वासोच्छ्वासं प्रचलदधरोपान्तमामीलिताक्षं  
 क्रीडाकुञ्जे तपनदुहितुः सुप्यतः श्रीमुरारेः ।  
 अन्तःस्मेरं निभृतनिभृतं काऽपि कर्णवतंसं  
 काचिद्वाह्वोः कनकवलयं दाय मुष्णाति काचित् ॥ २८ ॥  
 इन्द्रियाणा प्रथमप्रकाशो विबोधः । निद्राच्छेदो विभावः ।  
 अनुभावा अङ्गाकृष्टजम्भाऽक्षिमर्दनांगुलीमोडनादयः ।  
 यथा-  
 राधायाः सहसा दृशा कुवलयद्रोणीदरिद्रं नभः  
 कुर्वन्त्याः कलकण्ठकण्ठनिनदैः सांकेतिकैर्जायतः ।  
 अङ्गाकृष्टविवर्तमानवपुषो देवस्य कंसद्विषो  
 लोलापांगतरंगभंगचतुर नेत्राम्बुजं पातु नः ॥ २९ ॥

अनुभाव नेत्रका मींचना और प्रलयनाम सात्त्विकभाव और श्वास ऊर्ध्वश्वास इत्यादि हैं । इसका उदाहरण—“श्वासोच्छ्वास” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि श्वासके आधिक्यसे अथवा श्वास और ऊर्ध्वश्वास दोनोंसे कम्पमान है अधरका समीपभाग जिस कियामें जैसे होय तैसे और सर्वप्रकारसे, मींच्ये हैं दोनों नेत्र जिस कियामें जैसे होय तैसे यमुनाके क्रीडाकुञ्जमें सुप्यत अर्थात् स्वापछलको करते हुए ऐसे, अथवा शयन करते हुए श्रीकृष्णका अत्यन्त मन्द हास है जिस कियामें जैसे होय तैसे, कोई गोपी तो कर्णके भूषणको, कोई गोपी बाहुके स्वर्णकंकणको, कोई गोपी हारको चोरती है । यहां शयन विभावित श्वासाद्यनुभावित चेतोमिलनरूप सुसच्चर्वणाविश्रामस्थान है ।

अब विबोधका लक्षण कहते हैं “इन्द्रियाणाम्” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि ज्ञानोपयोगी इन्द्रियोंका जो प्रथम प्रकाश सो विबोध है । इसका विभाव निद्राका नाश है । अनुभाव अंगाकृष्ट, जृम्भा, नेत्रमर्दन, अंगुलियोंका मोडना इत्यादि जानना । इसका उदाहरण—“राधाया” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि दृष्टिसे अर्थात् कमलत्वसे अध्यवसित नेत्रका जो द्रोणी कहिये मुद्रण ताकरिकै रहित ऐसे नभ अर्थात् क्रीडामण्डपके आकाशको करती हुई जो राधा उसका जो कलकण्ठनिनद अर्थात् कोकिलशब्दत्वसे अध्यवसित राधाहुंकारादिक तदूप जो संकेतकृत

पराहं कारप्रशमोत्कटसमीहाऽमर्षः । विभावा अवमानाऽधि-  
क्षेपादयः । अनुभावाः स्वेदशिरः कम्पननयनाऽरुण्यादयः ।

यथा—

अद्याज्ञा नैव भर्तुः सरसिजनयनामूरुसेनासमेतं  
बद्धा लांगूलमूले दशमुखमभितो भूतले ब्रामयामः ।  
शश्वन्मार्गाविलोकप्रचलनयनया सीतया साकमेनां  
लङ्घामुत्पाद्य किं वा रघुपतिचरणाम्भोजयोजयामः ३०

आकारव्यवहारसंगोपनमवहित्थम् । विभावा ब्रीडाधाष्टर्च-  
कौटिल्यगौरवादयः । अनुभावा अन्यथाकरणाऽन्यथाप्रे-  
क्षणान्यथाकथनादयः । यथा—

चेष्टाएं उनसे जागते हुए अर्थात् निद्राकात्याग करतेहुए ऐसे और कंसके शत्रु और कीडाविट ऐसे, और अंगके आकर्षणसे उलट पुलट होरहा है शरीर जिनका ऐसे श्रीकृष्णका चश्वल जो अपांग तरंग कहिये नेत्रच्छटा उसका जो भंग कहिये रचना उसमें चतुर अर्थात् कुशल जो नेत्ररूप कमल सो हमारी रक्षा करो । यहां निद्राच्छेदसे विभावित अंगाकर्षणसे अनुभावित विषोध चर्वणाविश्रामस्थान है ।

अब अमर्षका लक्षण कहतेहैं “पराहङ्कार” इत्यादि वाक्यमें । वाक्यार्थ यह है कि परके अहंकारको प्रणाशके निमित्त जो अत्यन्त इच्छा सो अमर्ष है । इसके विभाव निन्दा और अधिक्षेप अर्थात् सभावें तिरस्कार इत्यादि हैं । और अनुभाव प्रस्वेद शिरका कम्पन नेत्रकी रक्तता इत्यादि हैं । अब इसका उदाहरण “अद्याज्ञा नैव” इत्यादि क्षोकसे कहतेहैं । क्षोकार्थ यह है कि हनुमान् वानरोंके प्रति कहते हैं कि इस समय रामचन्द्रकी आज्ञा नहीं है, यदि होती तो कमलनयना जो मन्दोदरी और सूनु जो मेवनादादि और सेना इन सबसे युक्त ऐसे रावणको पुच्छमें बांधकरिके सम्पूर्ण प्रकारसे पृथिवीमें फिरावैं किंवा निरंतर रामचन्द्रके मार्गके देखनेके लिये चलायमान हैं नेत्र जिसके ऐसी जो सीता उनके साथ इस लंकाको उपाडकरके रामके चरणारविन्दीमें मिलावैं । यहां गम्य जो राक्षसकृत तिरस्कार उससे विभावित और कठोर उक्तिसे अनुभावित अमर्ष चर्वणाविश्रामस्थान है ॥ अब अवहित्थका लक्षण कहते हैं “आकार”

१ विहारेति पाठान्तरम् ।

त्यक्त्वा सद्ग्र विभीषणः स गतवान्बद्धः स पाथोनिधिः  
 किञ्चित्कुर्ध्यति सोऽपि सारणिरतः सीता परित्यज्यताम् ।  
 इत्याकर्ण्य सुहृद्दण्स्य वचनं स्मेराननो रावणो  
 मुक्तादाम करेण कण्ठसविधे कीरस्य विन्यस्यति ॥ ३१ ॥  
 उग्रता निर्दयता । विभावा अपराधदोषकीर्तनचौर्यादयः ।  
 अनुभावास्तर्जनताडनादयः । यथा—

इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि निर्वेदादि जो व्यभिचारिभाव उसका कार्य जो मुखप्रसन्नतादिक सो कहिये आकार और वैसाही जो प्रियभाषणादि सो कहिये व्यवहार उन दोनोंका जो संगोपन अर्थात् छिपानेके अनुकूल अन्तःकरणवृत्ति सो अवहित्य है । इसके विभाव—लज्जा, धृष्टता, कुटिलता, गुरुता इत्यादि हैं । और अनुभाव—और प्रकार करना, और प्रकार झाँकना, और प्रकार बोलना इत्यादि हैं । इसका उदाहरण “त्यक्त्वा सद्ग्र” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इशोकार्थ यह है कि सः कहिये वह अर्थात् बन्धु भी जो विभीषण सो घरको त्याग करिके चला गया । और सः कहिये वह अर्थात् जिसका बन्धन कभी कोई नहीं करसका ऐसा भी जो समुद्र सो बांधा गया । अर्थात् वहां भी सेतुबन्धन कर दिया । और वह अर्थात् पत्नीबन्धुभी जो सारणि सो भी कुछ कुछ होता है अर्थात् परस्तीके हरणको नहीं सहता है इसकारणसे सीता जो है सो त्याग करनेके योग्य है । इस प्रकार बन्धुगणके वचनको सुन करिके स्मेरानन अर्थात् सुहृद्दण्सके वचनकी अवज्ञा की है जिसनें अत एव स्मितयुक्त है मुख जिसका ऐसा जो रावण सो सुहृद्दणोंमें जो कोप उसके परिहारकी इच्छासे आपके हास्यको अन्यसम्भूत जनानेके लिये मोतियोंकी मालाको हाथसे शुकके कण्ठके समीपमें पटकता है अर्थात् शुकके सम्मुख उस मालाको कर देता है । (यह कहनेका यह अभिप्राय है कि दाढिमबीज जान करकै कोई स्थानमें पकड़ता है वा नहीं पकड़ता है यह परीक्षा करनेके निमित्त उसके समीप मालाको धरता है) यह राक्षसोंकी परस्पर उक्ति है । यहां गम्य धृष्टतासे विभावित और प्रकार करनेसे अनुभावित जो गर्वादिकार्यभूत मुखविकासादिका संगोष्ठनफलक अवहित्य सो चर्वणविश्रामस्थान है ।

अब उग्रताका लक्षण कहते हैं “उग्रता” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि प्रचण्ड क्रियाकी कारणीभूत जो इसका मैं क्या करूँ ऐसी इच्छा

कोदण्डं रणभिन्नभूपतिभुजादंडैः प्रचण्डैः कृतं  
तत्र ज्या प्रतिपक्षराजरमणीवेणीगुणेगुम्फिता ।

कूराकारकुठारतारपतनप्रभ्रष्टदुष्टद्विप-

त्रुट्यहन्तदलैः कृतोस्ति विशिखस्तल्लक्ष्यमुद्रीक्ष्यते॥३२॥

यथार्थज्ञानं मतिः । अत्र विभावाः शास्त्रचिन्तनादयः ।

अनुभावाः शिष्योपदेशभूक्षेपकरचालनचातुर्यादयः ।

यथा-

लाटीनेत्रपुटीपयोधरघटीकीडाकुटीदोस्तटी-

पाटीरद्वमवर्णनेन कविभिर्मूढैर्दिनं नीयते ।

सो उग्रता है । इसके विभाव-आपका अपराध और दोषकीर्तन और घनका हरण इत्यादि हैं । अनुभाव डरपाना, ताडनाकरना इत्यादि हैं ।

इसका उदाहरण—“ कोदण्डम् ” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि रामके प्रति परशुरामकी उक्ति है कि रणमें मृत जो राजा उनके जो प्रचण्ड बाहुदण्ड उनसे धनुष किया है । और तहां शत्रु राजाओंकी जो स्त्री उनकी नींवेणी तदूष जो तन्तु उनसे प्रत्यक्षा बनाई है । और कठोर है स्वरूप जिसका ऐसा जो परशु उसका जो ऊंचेसे पड़ना उससे प्रभ्रष्ट अर्थात् कोपयुक्त जो दुष्ट हस्ती उनके जो टूटते हुए दन्ततल उनसे बाण कियाहै । ऐसे बाणका जो लक्ष्य अर्थात् निशाना है सो हेरा जाताहै । यहां व्यंग्य जो धनुर्भंगरूप अपराध उससे विभावित तर्जनसे अनुभावित जो उग्रता सो चर्वणाविश्रामस्थान है ॥ अब मतिका लक्षण कहते हैं “यथार्थ” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि यथार्थ जो ज्ञान सो मति है । इसके विभाव शास्त्रका चिन्तन इत्यादिक हैं । और अनुभाव शिष्यके प्रति उपदेश, भुकुटीका चलाना और हाथोंका चलाना और चतुरता इत्यादि हैं । इसका उदाहरण—“ लाटी ” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि मूढ अर्थात् शास्त्रचिन्ताराहित कवि लाटदेशकी नायिकाका नेत्रयुग, कुचकलश, कीडाकाघर, बाहुका विस्तार, चन्दनका कर्दम इनके वर्णनसे दिन जो हैं सो विताते हैं । और तदेकमन अर्थात् अव्यभिचारिभक्तियुक्त जो पुरुष अर्थात् हम सब हैं उनका समय तो गोविन्द ! जनार्दन ! जगतोंके नाथ ! कृष्ण ! ऐसे कथनोंसे व्यतीत होताहै । यहां शास्त्रचिन्तासे विभावित, चातुर्यसे अनुभावित जो मति सो चर्वणाविश्रामस्थान है ॥

गोविन्देति जनार्दनेति जगतां नाथेति कृष्णेति च  
व्याहारैः समयस्तदेकमनसां पुंसां परिक्रामति ॥ ३३ ॥  
नयविनयाऽनुनयोपदेशोपालम्भा अत्रैवान्तर्भवन्ति । उप-  
देशो यथा-

वसु प्रदेयं खलतोऽवधेयं मनो निधेयं चरणे हरस्य ।  
निजं विधेयं कृतिभिर्विधेयं विधेविधेयं विधिरेव वेत्ति ॥ ३४ ॥  
उपालम्भोऽपि द्विविधः-प्रणयात्मा कोपात्मा च । प्रणयात्मा  
यथा-

पाषाणे यदि मार्दवं यदि पयोधारा हुताशोदरे  
व्यालीनां वदने सुधा यदि रवेर्गम्भे हिमानी यदि ।

नीतिशास्त्रसिद्ध अर्थज्ञानरूप जो नय और लोकव्यवहारका अनुवर्तनरूप जो विनय और आपके अभिलाषका ज्ञापनरूप जो अनुभव और उपदेश और उपालम्भ इन सबका मतिमें ही अन्तर्भव है इस हेतु नय आदिक अधिक व्यभिचारिभाव हैं, यह शंका नहीं करनी । नय आदि तीनोंका उदाहरण उपदेशके उदाहरणमें ही गतार्थ है इस हेतु उपदेशका उदाहरण कहते हैं “वसु प्रदेयम्” इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि धन दानकरनेके योग्य है । और दुष्ट जनसे सावधानतासे स्थिति करनेके योग्य है । और भगवान् शिवके चरणारविन्दमें मन जो है सो स्थापन करनेके योग्य है । और कृती अर्थात् कुशल पुरुषोंने निज अर्थात् आपके अविकारितासे विधिबोधितकिया विधेय है अर्थात् करनेके योग्य है । और विविका अर्थात् दैवका जो विधेय अर्थात् प्राप्त करनेके योग्य कल उसको तो विधि अर्थात् ब्रह्मा ही जानता है । यह कहनेसे कर्मफलेच्छापरित्यागपूर्वक जो विहित कर्मका करना सो उपदेशयुक्त है सो जानना ॥

उपालम्भ अर्थात् निन्दादो प्रकारकी है एक तो प्रणयपूर्वक निन्दा, दूसरी कोप-पूर्वक निन्दा । तहां प्रणयपूर्वक निन्दाका उदाहरण “पाषाणे” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि कोई स्त्री अपने प्रियका स्वप्नमें अवलोकन करके विरहसे व्याकुल होकरिकै तुम्हारे समागमवशसे मेरी यह दुःखित अवस्था होगई है यह बात अपने पतिको कहनेके अर्थ कामदेवको उपालम्भ देती है कि हे स्मर ! भूमिपाल ! हे भगवन ! क्रोधसे व्यर्थ क्यों दौड़ते हैं अर्थात् बहुत स्थानका आक-

स्थेया किञ्च समीरणे यदि तदा स्वप्ने भवेत्सत्यता  
 किं नाम स्मरभूमिपाल भगवन् क्रोधान्मुधा धावसि॥३६॥

कोपात्माऽपर्ण एवान्तर्भवति । यथा—  
 जनयसि जगदेव देव देवाभरण सुधारसशीतलं सुधांशो ।  
 उरसि वहसि मे तथाऽपि तापं यदुपतिवक्त्रसखाऽसि किं  
 ब्रवीमि ॥ ३६ ॥

ज्वरादिविकाराख्यो व्याधिः । कुपितधातुभयकामक्लेशा-  
 दयो विभावाः । अनुभावा दशोपद्रवाः । यथा—  
 दातुं स्वीयमनर्घ्यदीघितपदं तस्याः कुरङ्गीहशः  
 केयूरं कनकांगुलीयकमिवानेतुं बहिर्गच्छति ।

मण क्यों करतेहो ? हमारे कहनेको सुनो, कि यदि पत्थरमें कोमलता होय, अग्निमें जलकी धारा होय, सर्पिणीके मुखमें अमृत होय, सूर्यमें खूब ठण्डापनाँ होय, वायुमें स्थिरता होय, तो स्वप्नमें सत्यता भी होय । इसका यह अभिप्राय है कि स्वप्नदर्शनमात्रसे क्यों दुःख देतेहो । यहाँ नायकका हृदय अतिकठिन है यह व्यंग्य जानना । कोपपूर्वक जो निन्दा है सो अपर्ण विना नहीं होता है इस हेतु इसका अपर्णमें अन्तर्भव है । इसका उदाहरण “जनयसि” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि चन्द्रमाके प्रति नायिकाकी उक्ति है कि हे देव देव जो महादेव उनके आभूषण ! अर्थात् मस्तकके अलंकरण ! ऐसा सम्बोधन देनेसे आप महाजन स्वीकृत हो यह सूचित हुवा । और अमृतकिरणयुक्त ! तु जगत्को सुधारससे शीतलही करता है । इस रीतिसे दोनोंही भकारसे उत्तम है तौभी मेरे हृदयमें ताप करता है परन्तु श्रीकृष्णका मुख तेरा मित्र है इस हेतु मैं क्या कहूँ । अनौचित्यसे कुछ नहीं कह सकती हूँ । यह जो चन्द्रमाका उपालम्भ सो कृष्णके उपालम्भमें पर्यवसन्न है ॥ अब व्याधिका लक्षण कहते हैं “ज्वरादि” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि ज्वरादिसे उत्पन्न जो मानस विकार सो व्याधि है । यहाँ ज्वरके जो कारण हैं धातुका कोप, भय, भ्रम, क्लेश इत्यादि वेही इसके विभाव हैं । और अनुभाव दश उपद्रव हैं । १ अभिलाप, २ स्मृति, ३ चिन्ता, ४ मरण, ५ गुणकीर्तन, ६ व्याधि, ७ प्रलाप, ८ उन्माद, ९ जड़ता, और १० उद्देग । यहाँ व्याधिशब्दसे शरीरका सन्ताप, कृशता आदि जानना ॥

इसका उदाहरण “दातुम्” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि उस

अन्यत्कृष्ण ! निवेदयामि किमितो वेणीमिषात्कालियो  
द्वाष्टालोचनवारि कालियसरोभ्रान्त्या परिभ्राम्यति ॥ ३७ ॥  
विना विचारमाचार उन्मादः । न चागम्यागमनेऽतिव्या-  
प्तिः । विना विचारमितिपदेन तद्वावर्तनात् । तत्र सुख-  
मुदेश्यम्, तदंशे विचार एव क्रिया न समीचीनेत्यन्यदे-  
तत् । अप्रेक्ष्यकारिता उन्माद इति यस्य मतं तत्रेदं दूष-  
णम् । तत्र विभावाः प्रियवियोगविभवभ्रंशादयः । अनु-  
भावा वृथालपितवृथाहसितवृथारोदनादयः । यथा--

मृगीसद्वश नेत्रवालीका जो केयूर अर्थात् बाहुका भूषण सो आपका जो उज्ज्वल  
कान्तियुक्त स्थान अर्थात् बाहु उसको देनेके अर्थ सोनेकी जो अंगूठी उसको  
बुलानेको ही मानो बाहर जाता है, इससे देहमें अत्यन्त कृशता व्यञ्जित हुई ।  
है कृष्ण ! और क्या उसके दुःखका निवेदन कर्तुं कि वेणीके छलसे  
कालिय सर्प जो है सो लोचनके जलको देखकरके यमुना सरोवरकी भ्रान्तिसे  
चारों तरफ भ्रमण करता है । यहां कामसे विभावित कृशतादिसे अनुभावित  
व्याधि चर्वणाविश्रामस्थान है ॥

अब उन्मादका लक्षण कहते हैं “विना विचारम्” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ  
वह है कि विना विचार अर्थात् सुखको उद्देश्य किये विना जो आचरण सो ही  
है फल जिसका ऐसा मनोविकार सो उन्माद है । यहां आचरणका विशेषण जो  
( सुखको उद्देश्य किये विना ) है सो न कहें तो अगम्य जो स्त्री अर्थात् नहीं  
गमन करने योग्य जो गोत्रादिकी स्त्री तहां जो गमन वह भी आचरणरूप है  
अतः यह मनोविकारभी उन्माद कहावेगा, तो वहां अतिव्याप्ति होगी, इस हेतु  
सुखको उद्देश्य किये विना यह विशेषण दिया, तो अगम्यागमनरूप जो आचरण  
सो सुखको उद्देश किये विना नहीं होता है, इस कारण इसके आचरण हेतु मनोविका-  
रमें अतिव्याप्ति नहीं हुई । यह जो आचरण है सो समीचीन है वा असमीचीन  
है यह कथा दूसरी है । कोई कहते हैं कि बलवान् जो अनिष्ट उसकी साधनता  
बुद्धिको उत्पन्न न होने दे ऐसी जो अन्तःकरणकी वृत्ति सो उन्माद है इसीं  
को अप्रेक्ष्यकारिता कहते हैं । यह जिनका मत है, उनके मतमें अगम्यागमन-  
कलक जो मनोवृत्ति है तदां अतिव्याप्ति होगी, इस हेतु यह उन्मादका लक्षण नहीं

नैषा काऽपि चकास्ति काञ्चनलता सैवास्ति मे राधिका  
 पृष्ठा चेन्न कुतोऽपि जल्पति तदा संमूर्छिता वर्तते ।  
 इत्थं हन्त विचिन्त्य सिञ्चति मुहुर्नीरधीरैर्दशो  
 वातं व्यातनुते करेण भुजयोराधाय सम्भाषते ॥ ३८ ॥  
 प्राणनिष्क्रमणं निधनम् । विभावाऽनुभावौ स्पष्टौ । यथा-  
 पर्यस्तांग्रि विकीर्णबाहु पततः संग्रामभूमौ भिया  
 लंकेशस्य न केशपाशमनिलः स्प्रष्टुं समाकाङ्गति ।

कहना सो जानना । इसके विभाव-प्रियका वियोग, विभवका नाश होना इत्यादि हैं । और अनुभाव-वृथा आलाप, वृथा हँसना, वृथा रुदन इत्यादि हैं । इसका उदाहरण “नैषा कापि” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि दूती किसी सखीसे कहती है कि यह अर्थात् दृष्टिगोचर और अनिर्वचनीय ऐसी स्वर्णलता प्रकाशित होती है, इस प्रकारका ज्ञान तो नहीं किया किन्तु वह परम प्रेमका पात्र हमारी राधिका है, ऐसा जान करिकै उस स्वर्णलताको कहने लगे कि, कोई प्रकारसे पूछताहुं तो नहीं बोलती है, अर्थात् उत्तर नहीं देती है, तो मैं जानता हूं कि यह मूर्छिता अर्थात् मोहित होरही है । इस प्रकार निश्चयकरिकै श्रीकृष्ण जो है सो अर्धैर्यसूचक जो नेत्रोंका जल उससे उस लताको सींचते हैं । और वात अर्थात् अधिक श्वासको विस्तारित करते हैं । और आपके हाथमें दोनों जो भुजा अर्थात् भुजात्वसे अध्यवसित जो काञ्चनलताका समीप भाग उसमें ग्रहणकरिकै बोलते हैं, अर्थात् प्रलाप करते हैं । यहां प्रियावियोगसे विभावित और वृथा रोदनाद्यनुभावित जो उन्माद सो चर्वणाविश्रामस्थान है ॥

अब निधनका लक्षण कहते हैं “प्राण” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि प्राणनिष्क्रमण समयकी जो चित्तवृत्ति सो निधन है । इसके विभाव व्याधि अभिवात इत्यादि लोकप्रसिद्ध हैं, और अनुभाव निश्चेष्टतादि हैं, सो जानना । इसका उदाहरण “पर्यस्तांग्रि” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं, श्लोकार्थ यह है कि पर्यस्त कहिये विस्तारित हैं चरण जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और विस्तृत हैं बाहु जिस क्रियामें जैसे होय तैसे संग्रामभूमिमें पड़ते हुए रावणके भयसे कश-समूहका स्पर्श करनेके निमित्त वायु जो है सो इच्छा नहीं करता है । और रावणके मुखकमलमें सूर्य आपके दीप किरणोंको नहीं पटकता है । और देवता आपके घरमें कथा अर्थात् रावणके मरनेकी वार्ता भी प्रकाशित नहीं करते हैं ।

उष्णं नोष्णकरः करं किरति वै वक्तारविन्दे न वा  
स्वेस्वे धाम्नि मिथः कथामपि सुराः प्रव्यक्तमातन्वते ॥३९॥

मनोविक्षोभस्त्रासः। तथा च विचारेत्थमनःक्षोभो भीतिः ।  
आकस्मिकमनःक्षोभस्त्रास इति विक्षोभेणैव द्वयोरप्येकत्वे-  
नोपसंग्रहः । विभावा घोरस्वनश्रवणघोरसत्त्वदर्शनादयः ।  
अनुभावाः स्तम्भस्वरभेदरोमाञ्चस्तगात्रतादयः । यथा—

शृण्वानो हरिनाम रामवदनादिन्द्रस्य शङ्खां वहन्  
कुर्वन्कातरमातरं स भगवान्मैनाकभूमीधरः ।  
कुञ्चत्पक्षति भुग्नितश्रुति कृतप्रत्यङ्गचोलावृति  
त्यक्तव्याहृति सिन्धुपङ्कुहरे निर्मलमाकाङ्क्षति ॥ ४० ॥

यहाँ संग्रामविभावित भूतनायनुभावित जो निधन सो चर्वणाविश्रामस्थान है।

अब त्रासका लक्षण कहते हैं “मनोविक्षोभः” इत्यादिवाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि मनका जो क्षोभ सो त्रास है । इसका अभिप्राय यह है कि मनका विक्षोभ दो प्रकारका है, एक तो यह है कि, उत्कट, दूसरा अनुत्कट । तहाँ विचारसे उत्पन्न जो मनोविक्षोभ सो उत्कट है उसको भय कहते हैं । अनुत्कट जो मनोविक्षोभ है सो भी दो प्रकारका है एक तो प्राक्सम्भावित, दूसरा आकस्मिक । तहाँ जिस भयका पूर्वकालमें निश्चय रहे वह प्राक्सम्भावित है । और जिस भयकी पूर्वसम्भावना नहीं वह आकस्मिक है । अब इस रीतिसे उत्कट अनुत्कट दो प्रकारका जो विक्षोभ है तिसमें एकका ग्रहण करेंगे तो दूसरा अधिक व्यभिचारिभाव होगा इस हेतु विक्षोभपद्दसे दोनोंका ग्रहण करलिया, इस हेतु एकही व्यभिचारिभाव इसको जानना चाहिये । परन्तु भीतिको त्रास नहीं कहा जाताहै, इसलिये उत्कटसे भिन्न ऐसा जो विक्षोभशब्दवाच्य वस्तु उसको त्रास कहते हैं सो जानना । इसके विभाव घोर शब्दका श्रवण, घोर प्राणियोंका दर्शन इत्यादि जानना । अनुभाव स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, अश्रुपात इत्यादि जानना । इसका उदाहरण “शृण्वानः” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि समुद्रसे उत्तरनेके समय कोई विषयमें शंभुके मुखसे हरि इस नामको सुनता हुआ, और उस ही श्रवणसे नाममें इन्द्रकी शंका करता हुआ, इस ही हेतु मनको चकित करता हुआ, वह जो भगवान्

**विचारो वितर्कः । विभावा विप्रतिपत्तिसंशयसाधकबाध-**  
**कमानसमुद्भावादयः । अनुभावाः शिरःकम्पध्रुचाल-**  
**नादयः । वितर्कश्रुविंधः—विचारात्मा संशयात्माऽन-**  
**ध्यवसायात्मा विप्रतिपत्त्यात्मा चेति । अनध्यवसाय**  
**उत्कटकोटिकसंशयः । प्रत्येकमुदाहरणानि—**

अर्थात् गुप्त होनेकी शक्तियुक्त जो मैनाकनामा पर्वत सो संकुचित हैं पक्ष जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और वक्रीकृत हैं कर्ण जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और अंग अंगके प्रति वस्त्रका आवरण है जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और धारण किया है मौनवत जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, समुद्रके कर्दममें सुलभ जो विवर उसमें गुप्त होनेको इच्छा करता है । यहां शब्दनामश्रवणसे विभावित, अंगसंकोचादिसे अनुभावित जो त्रास सो चर्चणाविश्रामस्थान है ॥

अब वितर्कका लक्षण कहते हैं “विचारः” इत्यादि वाक्यसे । यद्यपि ऊहको वितर्क कहना यह प्राचीनोंका लक्षण है, उसकी चिन्तामें अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि चिन्ताकोभी कौन प्रकारसे यह संघटित होगा, ऐसा जो ऊह तदूपता है इस ही अभिप्रायसे विचार जो है सो वितर्क है । यह कहनेवाले ग्रन्थकारने विवक्षितार्थनिश्चयाऽनुकूल जो यह ऐसा होनेके योग्य है, इस आकारका ऊह तो विचारपदसे कहा, वह ही विचार वितर्क है । सो इसके विभाव विप्रतिपत्ति, संशय, साधक, बाधक, मानका उद्भावन इत्यादि हैं । वादी प्रतिवादीका परस्पर विरुद्ध जो वाक्य सो विप्रतिपत्ति है । जैसे एकने कहा कि शब्द नित्य है, दूसरेने कहा अनित्य है । यहां नित्यत्व और अनित्यत्व ये दोनों विरुद्ध वस्तु हैं, इनका प्रतिपादक जो ‘शब्दो नित्यो न वा’ वाक्य सो विप्रतिपत्तिरूप जानना । विरुद्ध जो वस्तु उनका जो एक धर्मीमें ज्ञान सो संशय है, जैसे वहि और वहिका अभाव ये दोनों विरुद्ध वस्तु हैं इन दोनों वस्तुओंका जो पर्वतमें ( पर्वतो वहिमान वा ) इत्याकारक ज्ञान होय सो संशय है । यह विप्रतिपत्ति अथवा संशय जहां होय तहां साधकप्रमाण अथवा बाधकप्रमाण इनका जो प्रकटन करना सो साधक-बाधकमानसमुद्भावन है । इसके अनुभाव-मस्तकको कँपाना, भ्रुवोंको चलाना इत्यादि हैं । वह वितर्क चार प्रकारका है—विचारात्मा, संशयात्मा, अनध्यवसायात्मा और विप्रतिपत्त्यात्मा । तहां उत्कटकोटिसाधकउपन्यासरूप जो विचार उससे आत्मा अर्थात् स्वरूप होय जिसका ऐसी व्युत्पत्तिसे विचारपूर्वक जो वितर्क सो हुआ विचारात्मा, ‘यह वस्तु इस वस्तुके होनेसे ऐसा होने योग्य है’

कालिन्दीविलुठत्कठोरकमठकूरं धनुः शाम्भवं  
रामो बालमृणालकोमलवपुर्वशोऽवतंसो भुवः ।  
व्याहारप्रखराः खलाः क्षितिभृतां गोष्ठी गरिष्ठा पुन-  
स्तस्मात्केवलमेष तिष्ठति मम श्रेयस्करो भास्करः ॥४१॥

इस आकारके वितर्कका नाम विचारात्मा है यह फलित अर्थ हुआ । संशयसे है स्वरूप जिसका इस व्युत्पत्तिसे संशयपूर्वक वितर्कको संशयात्मा कहना तो 'यह वस्तु ऐसा भी हो सकता है अन्यथा भी हो सकता है' ऐसे आकारके ऊहको संशयात्मा कहना यह फलित हुआ । अध्यवसाय विपरीत निश्चयको कहते हैं, उसका जो विरोधी अर्थात् विशेषदर्शन सो अनध्यवसाय कहिये, उससे है स्वरूप जिसका इस व्युत्पत्तिसे विशेषदर्शनपूर्वक जो ऊह सो अनध्यवसायात्मा कहिये तो यह वस्तु इस गुणसे युक्त उक्त प्रकारसे किस प्रकार होगा ? ऐसा जो ऊह सो अनध्यवसायात्मा है यह फलित हुआ । इसहीको उत्कटकोटिकसंशय ग्रन्थकारने कहा है । दोनों ही कोटिसे व्यावृत्त अर्थात् भिन्न स्थानमें रहनेवाला जो धर्म उसकी जो प्रतिपत्ति अर्थात् ज्ञान सो कहिये विप्रतिपत्ति उससे है स्वरूप जिसका इस व्युत्पत्तिसे कोटिकद्वयव्यावृत्त जो धर्म अर्थात् दोनों कोटिके रहनेके स्थानमें न रहे ऐसा जो धर्म उसका जो दर्शन उससे उत्पन्न जो संशय तत्पूर्वक जो ऊह सो कहिये विप्रतिपत्त्यात्मा, तो 'यह वस्तु इस वस्तुके होनेसे ऐसा नहीं हो सकता है उसके होनेसे ऐसा भी नहीं हो सकता है' इस आकारके ऊहका नाम विप्रतिपत्त्यात्मा है यह फलित हुआ । अब विचारात्माका उदाहरण "कालिन्दी" इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि स्वयंवरप्रसंगमें रामको देखतेहुए जनककी आपके मित्रके प्रति उक्ति है कि पण किया ऐसा महादेवका जो धनुष सो यमुनामें रहनेवाला और कठिन ऐसा जो कमठ अर्थात् कच्छप उसकी कठोरताके सदृश है, कठोरता जिसकी ऐसी है, अर्थात् महावीरके भी शक्य जिसका आकर्षण नहीं है ऐसी है । और दशरथके पुत्र जो राम सो नया पैदा हुआ जो कमलनाल उसके सदृश है कोमल शरीर जिसका ऐसा है, अर्थात् महावीरको शक्य नहीं आकर्षण जिसका ऐसा जो धनुष उसके आकर्षणमें अत्यन्त अशक्त है । और हमारा जो कुल है सो पृथिवीका अलंकरणरूप है ( यह कहनेका अभिप्राय यह है कि अवतक यह कुल अकलंकित है परन्तु इस कन्यासे तो रामका ही विवाह होगा और मेरी प्रतिज्ञा है कि धनुष तोडनेवालेको कन्या दूंगा ।

सौन्दर्यस्य मनोभवेन गणनालेखा किमेषा कृता  
 लावण्यस्य विलोकितुं त्रिजगतीमेषा किमुद्रीविका ।  
 आनन्ददुममञ्जरी नयनयोः किंवा समुज्जृम्भते  
 राधायाः किमुवा स्वभावसुभगा रोमालिरुन्मीलतिः२॥

और रामसे धनुष दूर्घटा यह दीखता नहीं है तो प्रतिज्ञाभंग हो जायगा तो लोकमें अकीर्ति होगी सो अकीर्ति हमारे अनुरूप नहीं है ) कदाचित् कहें कि विवाहमें प्रतिज्ञाभंग होना दोषप्रद नहीं है सो ठीक है परन्तु दुष्टमति जो जन हैं सो दोषोद्धावन विषयमें अत्यन्त निपुण हैं । ऐसा है तो हमारी प्रतिज्ञाका भंग होनेसे हम दोष नहीं भी मानेंगे तो भी हमको अनाचारिताकी प्राप्ति होवैगीही सो जानना । और यहां राजाओंकी सभा बहुत भारी है इस हेतु लोकोंके सामने ऐसा भी अनाचार योग्य नहीं है इस कारणसे हमको कर्तव्य अर्थकी परिस्फूर्ति नहीं होती है । अब तो प्रतिदिन जिनकी उपासना करतेहैं ऐसे जगत्प्रकाशक सूर्य ही हमारा कल्याण करनेवाले स्थित हैं । यहां रामचन्द्र धनुषका नमन करेंगे वा नहीं करेंगे ऐसी जो मित्रकी विष्टिपत्ति उससे विभावित और गम्य जो शिरःकम्पादि उसमें अनुभावित जो देवताऽनुगुण्यरूप साधकोपन्यासात्मक विचारपूर्वक सूर्यकी सहायतासे राम धनुषका नमन करें इत्याकारक ऊह सो चर्वणाविश्रामस्थान है ॥

अब संशयात्माका उदाहरण—“सौन्दर्यस्य” इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि कोई रोमावलीकी प्रशंसा करता है कि यह जो दीखती हुई दीर्घ और सूक्ष्म और इथामल है सो कामदेवने सौन्दर्यकी गणनारेखा अर्थात् संसारमें एक ही यह सौन्दर्य है इसकी सूचक लिपि की है क्या ? ऐसा दीखताहै । अथवा लावण्यमें तीनों जगतोंको देखनेके लिये ऊँची ग्रीवा की है क्या ? ऐसा दीखताहै । अथवा दोनों नेत्रोंका जो आनन्दरूप वृक्ष उसकी जो मञ्जरी अर्थात् पुष्पगुच्छ सो वृद्धिको प्राप्त होता है क्या ? ऐसा दीखताहै । अथवा राधाकी स्वभावसे सुन्दर जो रोमावली सो दोनों नेत्रके विषयमें प्रकाशित होती है क्या ? ऐसा दीखताहै । यहां संशयसे विभावित गम्यभूचालनसे अनुभावित और कविकलिपत जो वक्ता उसका जो उक्त प्रकारका संशय तत्पूर्वक जो यह राधाकी रोमावली सो भी होसकती है, गणनारेखा भी होसकती है

कथय कथय केयं खञ्जनं खेलयन्ती  
 विहरति यमुनायाः पाथसि स्वर्णवल्ली ।  
 अयमुदयति को वा शारदः शीतभानु-  
 स्तदुपरि तिमिराणमेष को वा विवर्तः ॥ ४३ ॥  
 इयं न विलसत्सुधाकरकलाऽधिका राधिका  
 करं किरणमालिनः किमु सहेत तस्या वपुः ।

इत्याकारक ऊह सो चर्वणाविश्रामस्थान है ॥ अब अनध्यवसायात्माका उदाहरण “कथयकथय” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि यमुनातीरमें स्थित जो राधा उसका यह वर्णन है कि यमुनाके जलमें स्वर्णवल्लित्वसे अवगत ऐसी खञ्जनत्वसे अवगत जो नेत्र उसको खिलाती अर्थात् उद्गेग कराती ऐसी कौन है ? अर्थात् पूर्व इसको नहीं देखी है इसको कहो कहो । और अतिप्रसन्न शीतकिरण-त्वसे अवगत वह भी कौन ऊगता है ? अर्थात् मेरे सम्मुख आरहा है । और इसके ऊपर प्रत्यक्ष ऐसा जो तिमिरतासे भासमानका विवर्त अर्थात् परिणामभेद कौन है यह भी कहो ? यह भी पूर्व देखा हुआ नहीं है । यहां गम्य जो परवैमत्यादि उससे विभावित और परकीय प्रश्नसे अनुभावित जो खञ्जनात्मक विशेषदर्शनपूर्वक खञ्जनाःयवसितलोचनयुग्युक्त यह नायिका कैसे हो सकेगी, और तिमिरत्वसे अध्यवसित धम्मिल्लसे युक्त यह मुख किस प्रकार हो सकेगा । ऐसा जो ऊह सो चर्वणाविश्रामस्थान है ॥

अब विप्रतिपत्त्यात्माका उदाहरण “इयम्” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि विशेषतासे शोभायुक्त अर्थात् प्रकाशमान जो सुधाकरकला अर्थात् अमृतभरपूरित अधरविम्बात्मक एकदेश ही अमृतपूरितपोडशकलामूर्तिरूप चन्द्रसे अधिक है जिसमें ऐसी यह राधिका नहीं, क्योंकि राधिकाका जो शरीर है सो किरणमाला अर्थात् सूर्यकी जो किरण उसको सहेगा क्या ? इससे राधिका नहीं है और कनकमञ्जरी भी यह नहीं है, क्योंकि जिसकारणसे खञ्जरीट अर्थात् पक्षिविशेषको धारण करती है तिस कारणसे दोनोंसे विलक्षणता होनेसे स्मरमदालसा अर्थात् शरीरगौरवसे युक्त ऐसी यह देखनेमें आती है सो कौन है सो कहो । यहां आधिक्यरूप साधकको सूर्यकिरणरूप बाधकको उपन्याससे विभावित परकीयप्रश्नसे अनुभावित असाधारण धर्मदर्शनजन्यसंशयपूर्वक यह सूर्यकिर-

न वा कनकमञ्जरी वहति खञ्जरीटं यत-

स्ततः स्मरमदालसा कथय केयमुन्मीलति ॥ ४४ ॥

ननु दशावस्थास्वभिलाषगुणकथाप्रलापा व्यभिचारिभा-  
वाऽभ्यन्तरे न गणितास्तत् किं स्वतन्त्रा एवेति चेन्न ।  
औत्सुक्येऽभिलाषस्य वर्णनात्मकस्मृतौ गुणकथाया उन्मादे  
प्रलापस्यान्तर्भावात् । अत्र प्रतिभाति छलमधिको व्यभि-  
चारिभाव इति । “ताम्बूलाहरणच्छ्लेन रभसा श्लेषोऽपि  
संविघ्नितः” इति शृङ्गारे दर्शनात् । रौद्रे चेन्द्रजालादि-  
दर्शनात् । हास्ये च व्यपदेशाऽन्यापदेशयोर्दर्शनात् ।  
वीथीभेदे दर्शनात् ।

णके सहनसे राधिका नहीं है खञ्जरीटके धारणसे कनकमञ्जरी भी नहीं है इस आकारका ऊह चर्वणाविश्रामस्थान है । यहां यह शंका होती है कि दोनों कोटिसे जो भिन्न धर्म उसका दर्शन होतसन्ते अन्यतर कोटिका निश्चय नहीं हो सकेगा ऐसा हुआ तो विवक्षितार्थ निश्चयके अनुकूल यह ऊह नहीं हुआ इस हेतु वित्कलक्षणकी यहां अव्याप्ति हुई । इसका समाधान यह है कि ‘स्मरमदालसा’ इस पदसे गात्रगुरुतादिसे कर्त्त्वचित् सहता भी है इस अर्थका प्रकाश होनेसे राधाकोटिनिश्चयकी अनुगुणता स्फुट ही है तो अव्याप्ति नहीं हुई सो जानना ॥

यहां यह शंका होती है कि दश अवस्था जो कही हैं तहां कोई तो शारीर हैं कोई मानस हैं जैसे व्याधि और उन्माद यह दोनों शारीर हैं तहां व्याधिं जो है सो विकाररूप है, इस हेतु वैवर्ण्यरूप सात्त्विकभावमें अन्तर्गत है । और नानाविधव्यापारात्मक जो पुलकादिरूप उन्माद है सो तो यथायोग्यरोमाच्चादिमें अन्तर्गत है । और सब अवस्था मानस हैं । उनमें चिन्ता, स्मृति, जडता इनका तो व्यभिचारिभावोंमें परिगणन किया है और अभिलाष, गुणकीर्तन, प्रलाप इनका परिगणन व्यभिचारिभावोंमें क्यों नहीं किया तो ये तीनों क्या इनसे न्यारे हैं ? इसका समाधान यह है कि अभिलाष तो इच्छारूप है इस हेतु औत्सुक्यमें अन्तर्गत होगा । और गुणकथाका वर्णनात्मक स्मृतिमें अन्तर्भाव है । और प्रलापका उन्मादमें अन्तर्भाव है इस हेतु ये तीनों व्यभिचारिभावोंमें अन्तर्गत हैं, स्वतन्त्र नहीं

## संगुतक्रियासंपादनं छलम् । विभावा अवमानप्रति-

हैं सो जानना । यह दिक्प्रदर्शन कर दिया है । और भी जानना चाहिये कि उद्गेग जो है सो व्याधिमें अन्तर्गत है । और निधन जो है सो मरणरूप व्यभिचारिभावमें अन्तर्गत है । ऐसा हुआ तो जो अवस्था जिस व्यभिचारिभावमें अन्तर्गत होजाय उस अवस्थाका उदाहरण उस व्यभिचारिभावके उदाहरणमें अन्तर्गत जानना । अब यहां यह प्रतीत होता है कि व्यभिचारी छलरूपते तिससे पृथक है । क्योंकि 'ताम्बूलाहरण' इत्यादि शृंगारश्लोकमें छलका कथन देखते हैं यह इलोक इस प्रकार है कि । "एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्धमाहूरतस्ताम्बूलाहरणच्छ्लेन रभसाइलेषोऽपि संविनितः । आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापर्यन्त्या तया कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः ।" इस श्लोकका अर्थ यह है कि चतुरा जो वह नायिका है उसने कान्तके प्रति ईर्ष्या मान जो है सो उपचार अर्थात् तत्त्वकालोचित कियाओंसे 'कृतार्थीकृतः' अर्थात् अकृतार्थ कृतार्थ करदिया । इसका अभिप्राय यह है कि स्फुटभी जो ईर्ष्यामान् सो अस्फुटताको प्राप्त करदिया, क्योंकि कोप प्रकाश होत सन्ते कोपकी निवृत्तिमें चतुरनायकने सुन्दरवचनादिकोंसे एक स्थानमें स्थित होकरिकै कोपको अनर्थकता होजाती इस हेतु उस कोपको गुप्त किया, यही बात प्रगट करते हैं कि, दूरसे उठकरिकै सम्मुख जानेसे एक स्थानमें स्थितिका त्याग करदिया । और बीटिकाका आनयनरूप जो कार्य उससे रभसाश्लेष अर्थात् भ्रेमांलगन जो है सो भी विघ्नयुक्त कर दिया । अभिप्राय यह है कि आलिंगनाऽवसरमें आपही उठकरिकै ताम्बूलकी बीटिका लाने चली गई इस हेतु आलिंगनकाभी त्याग करदिया । यहां छलशब्द कार्यार्थक जानना इस हेतु वमनाख्य दोष नहीं है । और परिजन अर्थात् बन्धुवर्गको तत्त्वापारयुक्त करती हुई ऐसी उसने आलाप अर्थात् परस्पर प्रश्नरूप भाषण भी नहीं मिश्रित किया अर्थात् उत्तर प्रत्युत्तर नहीं हुआ । और रौद्ररसमें इन्द्रजालादि छलरूप देखते हैं । और हास्परसमें व्यपदेश अर्थात् छलयुक्त व्यवहार और अन्यापदेश अर्थात् औरसे छल करना यह देखते हैं । और मार्गविशेषमें अर्थात् कणादशास्त्रसे पृथग्भूत न्यायशास्त्रमें गौतमरचित प्रथम सूत्रमें छलकी पृथक गणना है अभिप्राय यह है कि प्राचीन निबन्धमें भी छलकी गणना है सो जानना ॥

हेतु छलका लक्षण कहते हैं "संगुत" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि

पक्षकुचेष्टादयः । अनुभावा वक्रोक्तिनिभूतस्मितनिभूतवी-  
क्षणप्रकृतिप्रच्छादनादयः । शृङ्गारे यथा-

संकेतीकृतकाननं प्रविशतोरन्योऽन्यकौतूहला-  
दन्यत्वप्रतिभानमारचयतोरन्योन्यमुत्रस्थतोः ।  
कुञ्चत्कायमितस्ततः किसलयैरात्मानमावृण्वतो  
राधामाधवयोर्निंकुञ्जकुहरादुद्रीविका पातु नः ॥ ४५ ॥

संग्रामे यथा-

सप्ताऽपि कृतान्कपटाम्बुराशीन्पुरोपकण्ठे पुनरीक्षमाणः ।  
दृशौ कपीन्द्रस्य मुखे सखेदमायोजयामास स रामचन्द्रः ॥ ४६ ॥

कोई क्रियाका जो गोपन इसका कारणीभूत जो क्रियान्तर उसकी कारणीभूत जो अन्तःकरणवृत्ति सो छल है । अवहित्य जो है सो तो निर्वेदादि जो अनुभाव हैं उनका गोपन उसको उत्पन्न करनेवाला है, और छल जो है सो उससे भिन्नक्रियाका गोपन करनेवाला है, इससे इनमें भेद जानना । इसके विभाव अवमान और विपरीतपक्ष और कुत्सितचेष्टा इत्यादि हैं । अनुभाव वक्रोक्ति, निरन्तर स्मित और निरन्तर ज्ञानकाना और प्रकृतिका छिपाना इत्यादि जानना ।

शृंगार रसमें छलका उदाहरण “संकेतीकृत” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि निकुञ्जकुहर कहिये लतामण्डपके समीपमें स्थित होकरि कैकीदुर्दृ जो राधामाधवकी उद्धरीविका अर्थात् ग्रीवाका ऊँचा करना सो हमारी रक्षा करो । कैसे है राधा माधव सो, कहते हैं कि संकेतीकृत कानन अर्थात् क्रिया है संकेत जिसका ऐसे बनके प्रति जातेहुए ऐसे, और परस्परमें कौतुकसे जो न्यारापना जानना अर्थात् भिन्न २ भी जो राधा-माधव तिनका यथार्थतासे परस्पर ज्ञान नहीं होय इस रीतिसे व्यवहार करते हुए, इसही हेतु परस्पर उत्त्रसित होते अर्थात् वह तो उनके जाननेके भयसे युक्त और वह उनके जाननेके भयसे युक्त ऐसे और संकोचयुक्त है शरीर जिस क्रियामें जैसे होय तैसे । कहीं कहीं आपके स्वरूपको आम्रपत्रोंसे ढकते हुए ऐसे । यहां ननःशंकव्यवहारपरीक्षासे विभावित और निरन्तरवीक्षणाद्यनुभावित कुञ्जप्रवेशगोपनफलक जो छल सो चर्वणाविश्रामस्थान है ।

अब संग्राममें छलका उदाहरण कहते हैं “ सप्ताऽपि ” इत्यादि श्लोकसे ।

सर्वाणि व्यभिचारिस्थलानि विस्तरभयान्नोदाहृतानि ।  
 आलस्योऽयजुगुप्साः सम्भोगे वर्ज्याः । विप्रलम्भे चाल-  
 स्यग्लानिनिवेदश्रमशंकानिद्रौत्सुक्यापस्मारसुपविबोधो-  
 न्मादजाड्यासूया व्यभिचारिणः । हास्येऽवहित्याल-  
 स्यनिद्रासुप्रबोधाऽसूयाव्यभिचारिणः । कहणे मोह-  
 निवेददैन्यजाड्यविषादध्रमापस्मारोन्मादव्याध्यालस्य-  
 स्मृतिवेपथुस्तम्भस्वरभेदाश्रूणि व्यभिचारिणः । रौद्र उत्सा-  
 हस्मृतिस्वेदावेगामर्षरोमाञ्चचपलतोश्वत्वस्वरभेदकम्पा व्य-  
 भिचारिणः । वीर उत्साहधृतिमतिगर्वावेगामषौऽयरोमाञ्चा:

इलोकार्थ यह है कि भ्रान्तिकरिकै सत्तायुक्त जो सातोंही कपटाम्बुराशि अर्थात् इन्द्रजालरचित् समुद्र उनको लंकाके समीपमें देखता हुवा जो वह अर्थात् देखते हैं हनुमानका पराक्रम जिसने ऐसा रामचन्द्र सो उद्धिका आक्रमण करनेवाले हनुमानके मुखमें दोनों नेत्रोंको खेदयुक्त जैसे होय तैसे प्रेरित करता भया । यही अम्बुराशिका अवभासक जो प्रतिपक्ष राक्षस उसकी कुचेष्टासे विभावित, खेदयुक्त हृषिपातसे अनुभावित आपका तत्त्वावगोपनफलक जो रामनिष्ठ छल सो चर्वणाविश्रामस्थान है । “ततः सिंहोऽभवत्सद्यो यावत्स्याम्बिका शिरः । छिनत्ति तावत्पुरुषः खड्गपाणिरदृश्यत ।” इत्यादि रौद्रकाव्यमें भी छल देखते हैं सो जानलेना । यहाँ कोई शका करता है कि यह जो तेरीस प्रकारकी संख्याका नियम किया सो नहीं बनसकता है, क्योंकि मात्सर्य, उद्देग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लीवता, क्षमा, कौतुक, उत्कण्ठा, विनय, संशय, धृष्टता इत्यादिको भी तहां उदाहरणसे देखते हैं । यह शंका समीचीन नहा क्योंकि असूयासे मात्सर्यका, त्राससे उद्देगका, अवहित्यसे दम्भका, अमर्षसे ईर्ष्याका, मतिसे विवेक और निर्णय इन दोनोंका, दीनतासे क्लीवताका, धृतिसे क्षमाका, औत्सुक्यसे कुतुक और उत्कण्ठा इन दोनोंका, लज्जासे विनयका, वितर्कसे संशयका, चपलतासे धृष्टताका वास्तविक सूक्ष्म भेद है भी तोभी इस मध्यमें इनकी प्राप्ति होनेसे इनसे इनको एकताका अध्यवसाय करते हैं । इन

व्यभिचारिभावाः । भये स्तम्भस्वेदगद्गदतारोमाश्वैवण्य-  
शङ्खामोहावेगदैन्यचापलत्रासापस्मारप्रलयमूर्छा व्यभि-  
चारिणः । बीभत्सेऽपस्मारमोहावेगवैवण्यानि व्यभिचा-  
रिभावाः । अद्भुते स्तम्भस्वेदगद्गदताश्वरोमाश्वविश्रमस्मया  
व्यभिचारिभावाः । अन्ये व्यभिचारिणो रसाऽनुकूला  
उहनीयाः ॥

व्यभिचारिभावोंमें कोई व्यभिचारिभाव किसीका विभाव भी होताहै । और किसीका अनुभाव भी होताहै । जिस प्रकार ईर्ष्या निर्वेदका विभाव है और असू-  
याका अनुभाव है, तिसही प्रकार चिन्ता निद्राका विभाव है और औत्सुक्यका  
अनुभाव है इत्यादि । अब तत्त्वद्रसमें व्यभिचारिभावोंको दिखाते हैं—आलस्य,  
उत्तरा, ज्ञानप्सा यह तीनों सम्बोग शृंगारमें वर्जित हैं । यह कहनेसे इन तीनोंको  
छोडकरिके सम्बोग शृंगारमें व्यभिचारिभाव जानना । और विप्रलम्भमें आल-  
स्यादि असूयान्त व्यभिचारिभाव हैं । और हास्यमें अवहित्यादि असूयान्त व्यभि-  
चारी हैं । करुणमें मोहादि अश्रुपर्यन्त व्यभिचारी हैं । रौद्रमें उत्साहादि कम्पान्त  
व्यभिचारी हैं । वीरमें उत्साहादि रोमाश्वान्त व्यभिचारी हैं । भयानकमें स्तंभादि  
मूर्छान्त व्यभिचारिभाव हैं । बीभत्समें अपस्मारादि वैवण्यान्त व्यभिचारिभाव हैं ।  
अद्भुतमें स्तम्भादि स्मयान्त व्यभिचारिभाव हैं । ये जो व्यभिचारिभाव दिखायेहैं  
सो बहुत स्थलमें ये ही व्यभिचारिभाव प्राप्त हैं इस अभिप्रायसे दिखायेहैं ।  
और भी व्यभिचारिभाव तत्त्वद्रसमें हैं सो जानना चाहिये । जैसा कि शृंगारमें  
भय, व्याधि, चिन्ता, स्मृति, मति, विस्मय, हर्ष, व्रीडा, मद, विषाद, अवहित्या,  
चपलता, धृति ये हैं । और हास्यमें श्रम, चपलता, स्वप्न, ग्लानि, शंका ये  
अन्यत्र कहे हैं । करुणमें चिन्ता, ग्लानि, धृति ये हैं । रौद्रमें ईर्ष्या, असूया, गर्व,  
मद ये हैं । वीरमें वितर्क, असूया, मोह, शोक, हर्ष, मद ये हैं । भयानकमें सन्ताप,  
मरण ये हैं । बीभत्समें विषाद, भय, रोग, मति, मद, उन्माद ये हैं । और अद्भु-  
तमें आवेग, जडता, मोह; हर्ष, विस्मय, धृति ये हैं । इसही हेतु यन्थकार  
लिखते हैं कि और भी व्यभिचारिभाव रसके अनुकूल हैं उनका उह कर लेना ।  
स्थायिभाव विशेष भी रस विशेषमें व्यभिचारी होतेहैं । जिस प्रकार हास शृंगा-

स्थायिनोऽपि व्यभिचरन्ति । हासः शृङ्गारे । रतिः शान्त-  
करुणहास्येषु । भयशोकौ करुणशृङ्गारयोः । क्रोधो  
वीरे । जुगुप्सा भयानके । उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु  
व्यभिचारिणौ ॥

इति श्रीभानुदत्तविरचितायां रसतरंगिण्यां व्यभिचारिभावनिरूपणं  
नाम पञ्चमस्तरंगः ॥ ५ ॥

रमें व्यभिचारी है, रति शान्त, करुण, हास्य इनमें व्यभिचारी है । और भय  
तथा शोक करुण और शृंगार इनमें व्यभिचारी है । क्रोध वीरमें व्यभिचारी है ।  
जुगुप्सा भयानकमें व्यभिचारी है । और उत्साह तथा विस्मय सबरिसोंमें व्यभि-  
चारिभाव है सो जानना ॥

इति श्रीरसतरङ्गिणी भावाटीकायां व्यभिचारिभावनिरूपणं नाम पञ्चमस्तरङ्गः ॥ ९ ॥



## षष्ठस्तरंगः ६.

---

**अथ रसा निरूप्यन्ते । विभावाऽनुभावसात्त्विकभावव्य-  
भिचारिभावैरुपनीयमानः परिपूर्णः स्थायिभावो रस्यमानो**

रसके सम्पूर्ण हेतुओंका निरूपण कर दिया । अब अवसरप्राप्त रसनिरूपण है उसकी प्रतिज्ञा करते हैं “अथ” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि स्थायिभाव-विभावाऽनुभावसात्त्विकभावव्यभिचारिभावनिरूपणाऽनन्तर रसका निरूपण किया जाता है । निरूपण लक्षणके बिना नहीं होसकता है इस हेतु रसका लक्षण “विभाव” इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारिभाव इनसे परिपूर्ण अर्थात् आलम्बन उत्पादित उदीपनसे उदीपित, अनुभावसे प्रतीतियोग्य किया गया । और व्यभिचारिभावसे पुष्ट जो स्थायिभाव सो रामादिक अनुकार्योंमें ही उपनीयमान अर्थात् स्थित और नटमें कृत्रिमवेशादिसे अनुकार्य रामादितुल्यताऽनुसन्धानबलकरिकै आरोप्यमाण और रस्यमान अर्थात् चमत्कारहेतु रस अर्थात् रसपदार्थ है सो जानना चाहिये । तहाँ रस्यमान यह जो कहा सो रस पदकी प्रवृत्तिमें निमित्त दिखाया है, क्योंकि चमत्कार हेतु हुए बिना वस्तुमें प्रवृत्ति नहीं होती है, इस हेतु यह प्रवृत्तिनिमित्त है सो जानना । यहाँ यह शंका हुई कि यद्यपि भरतसूत्रमें विभावाऽनुभावव्यभिचारिभावके संयोगसे रसकी निष्पत्ति कही है तथापि यहाँ सात्त्विकभाव द्विरूप है अव्यक्ति व्यभिचारिभावरूपभी है अनुभावरूप भी है इस हेतु विभाव सात्त्विकभाव दोनोंके सम्बन्धसे ही तीनकी प्राप्ति होजायगी । फिर लक्षणवाक्यमें अनुभाव व्यभिचारिभाव इन दोनोंका उपादान क्यों किया ? इसका समाधान यह है कि सात्त्विकभाव कहकरिकै अनुभाव, व्यभिचारिभावका जो ग्रहण किया सो गोबलीवर्दन्यायसे जानना । इसका अभिप्राय यह है कि किसीने किसीसे कहा कि गौको लेआओ और बलीवर्दको लेआओ यहाँ गो इस शब्दके उच्चारणसे बलीवर्दकाभी आनयन सिद्ध होजायगा, फिर बलीवर्दका उपादान निर्थक होता है, इस हेतु यहाँ गोशब्द बलीवर्दसे भिन्न गोका बोधक होता है, इस ही प्रकार यही भी अनुभाव व्यभिचारिभाव शब्द जो हैं सो सात्त्विकभिन्न अनुभाव और सात्त्विकभिन्न व्यभिचारिभावका बोधक है इस ही हेतु भरतसूत्रमें व्यभिचारिभावशब्दसे निर्वेदादिका ही ग्रहण कियाहै इस वार्ताका स्मरण कर लेना चाहिये । यह जो रसका लक्षण किया है सो ‘विभावाऽनुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः’ इस भरतसूत्रके व्याख्यानकर्ता जो भट्टलोहुट

प्रभृति लिनके भी संमत है। व्याख्यान इस प्रकार है कि आलम्बनसे उत्पाद्योत्पाद-  
कभावसम्बन्ध, उदीपनसे उदीप्योदीपकभावसंबन्ध, अनुभावसे गम्यगमकभाव-  
सम्बन्ध, व्यभिचारिसे पोष्यपोषकभावरूपसम्बन्ध जो रतिको होता है सो ही  
तीनोंसे संयोगसम्बन्ध कहाता है। उस संयोगसम्बन्धके बलसे जो रसकी निष्पत्ति  
अर्थात् आलम्बनसे उत्पत्ति, उदीपनसे उदीप्ति, अनुभावसे अनुभव, व्यभिचा-  
रिभावसे रसकी पुष्टि रामादिमें होती है इस हेतु इस मतमें रस रामादिनिष्ठ ही है,  
नटमें तो रामरूपताऽध्यात्मसे आरोपविषय होता है। अथवा उक्त लक्षणवाक्यका  
ऐसा अर्थ है कि कृत्रिम भी जो विभावादि उनमें कृत्रिमताज्ञान नहीं हुआ है इस  
हेतु कृत्रिमतासे विभावादि सम्पूर्ण अगृहीत है, उसी विभावादि हेतुसे उपनीयमान  
अर्थात् चित्रतुरगन्यायसे 'राम यह है' यह जो बुद्धि उसका विषय जो नटरूप पक्ष  
उसमें अनुमीयमान ऐसा, इस ही हेतु परिपूर्णरूप अर्थात् स्थायिभाववस्थासे  
अवस्थान्तरको प्राप्त जो स्थायिभाव इत्यादिक सो रस्यमानता अर्थात् चर्व्यमाण-  
तासे रसपदार्थ है, सो जानना चाहिये। यह बात श्रीशंकुने कही है कि 'रामही  
यह है' यह जो रामसे असम्बन्धकी निराकरण करनेवाली बुद्धि, और 'यही राम  
है' यह जो इदंपदार्थसे भिन्नमें रामसम्बन्धकी निराकरण करनेवाली बुद्धि ये  
दोनों बुद्धि शास्त्रमें सम्यग्बुद्धि कहाती हैं। इन दोनों बुद्धियोंसे और उत्तरकालमें  
उत्पन्न हुआ जो 'यह राम नहीं है' ऐसा वाधज्ञान सो होनेवाला रहे तब पूर्व-  
कालमें उत्पन्न हुआ जो 'राम यह है' ऐसी मिथ्याबुद्धि, और विरुद्ध दो वस्तु-  
ओंकी जो 'यह राम है' वा 'नहीं है' ऐसी संशयरूप बुद्धि, और रामसादृश्यको  
विषयकरनेवाली जो 'रामसदृश यह है' यह बुद्धि ये जो पांच प्रकारकी लोकप्र-  
सिद्ध बुद्धि हैं, सो तो प्रवृत्ति और निवृत्तिके योग्य हैं। और जिसमें प्रवृत्तिनिवृ-  
त्तिकी योग्यता नहीं है इसही हेतु उस पांच प्रकारकी बुद्धिसे विलक्षण जो चित्रमें  
'घोड़ा यह है' इसबुद्धिकी तरह 'राम यह है' यह बुद्धि इसबुद्धिका विषय जो नटरूप  
पक्ष उसमें वाधित भी जो विभावादित्रयात्मक हेतु उसका ज्ञान होता है। नटमें  
उसका ज्ञान किस प्रकार होता है यह शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि नाट्य  
करनेवाले नटने नाना प्रकारके काव्यको जानकरिकै आलम्बनविभाव, उदीपन-  
विभाव इन दोनोंका और पूर्वकालहीमें गुरुशिक्षाको प्राप्त होकरिकै रोमाञ्चादिके  
प्रकाशनमें किया हुआ जो अतिशयित्र अभ्यास उस अभ्याससे रोमाञ्चके आवि-  
र्भावकरिकै अभिव्यक्त जो उत्कण्ठादिक व्यभिचारिभाव उनका, और अभ्यास-  
पटुताङ्करिकै ही तत्त्वकालोचित कटाक्ष-भुजक्षेपादिक अनुभावके अवगमका  
सम्भव है, उस विभावादित्रयके ज्ञानसे नटमें रत्याद्यात्मक स्थायिभावकी अनु-  
मिति होती है, वह जो अनुमिति है सो ही चमत्कारसहित प्रतीतिरूपा चर्चणा

रसः । भावविभावाऽनुभावव्यभिचारिभावैर्मनोविश्रामो  
यत्र कियते स वा रसः ॥

कही जाती है । चर्वणाका विषय जो स्थायी सो रस पदार्थ है, चर्वणा सामाजिकमें है, इस हेतु सामाजिकमें ही रसव्यवहार होताहै । ऐसा हुआ तो भरत-सूत्रका यह अर्थ हुआ कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव इनकरिकै जो संयोग अर्थात् अनुमान उससे रस जो स्थायी उसकी निष्पत्ति अर्थात् अनुमिति होती है । ये दोनों पक्ष समीचीन नहीं, क्योंकि वास्तविक विचार करते हैं तो सामाजिकोंमें रसका स्पर्श तो है नहीं, ऐसा हुआ तो सौ बार रसका आरोप करनेसे अथवा अनुमिति करनेसे चमत्कार नहीं होगा, कदाचित् यह कहो कि स्थायि-भावरूप वस्तुमें जो सुखरूपता है उसके बलसे ही आरोप वा अनुमिति चमत्कारका कारण होसकते हैं, यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि लोकप्रसिद्ध अर्थको त्याग करिकै ऐसी कल्पना करनेमें सहदय जनको विश्वास नहीं है । और सुनो, सामाजिक जनमें तो रामनिष्ठ रति वस्तु है नहीं, तो असत् जो रति सो सामाजिकोंको व्यञ्जित होगी, यह भी कहना दुर्लभ है । आपने बाहुबलसे स्वीकार कराओ तो वासनाविरहित जो बालक मूर्ख जन हैं, उनमें रसाऽभिव्यक्ति हो जायगी, इस हेतु भरतसूत्रका ऐसा अर्थ करना चाहिये कि विभावादिसे जो संयोग अर्थात् भोज्यभोजकभावरूप सम्बन्ध उससे उसकी निष्पत्ति अर्थात् भोग होताहै, इस ही अर्थको मानकरिकै दूसरा लक्षण कहते हैं “भाव” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि भाव अर्थात् स्थायिभाव और विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव इनसे मनका विश्राम जहाँ करतेहैं सो रस है । इस लक्षणमें विभाव आदिके साथ जो स्थायिभावका उपादान कियाहै सो साधारणीकरणरूप एक प्रयोजन जनानेके अर्थ है । इस लक्षणका अभिप्राय यह है कि शब्दरूप काव्यका अभिधारूप जो प्रथम व्यापार उससे आप आपके असाधारणरूपसे अर्थात् सतित्वादिरूपसे विभावादि उपस्थित होतेहैं, फिर काव्यका भावकत्वरूप जो द्वितीय व्यापार उससे नायिकात्वादि जो रसानुकूल धर्म उससे भावादि उपस्थित होतेहैं । यह जो नायिकात्वादि धर्मसे भावादिकी उपस्थिति सो रसका विरोधी जो अगम्यात्वरूपसे स्त्रीका ज्ञान उसका प्रतिवन्ध करती है और सम्बन्धिविशेषसे मिलन विना इन सम्पूर्णकी उपस्थिति होती है । यहाँ यह शंका हुई कि काव्यमें ऐसा भावकत्वव्यापार मानना निरर्थक है, क्योंकि आपके आत्मामें उस उस नायिकादिको जो अमेदबुद्धि होगी उसहीसे

## प्रबुद्धस्थायिभाववासना वा रसः ।

अगम्यात्वरूपकारके जो स्त्रीका ज्ञान उसका प्रतिबन्ध होजायगा । इसका समाधान यह है कि दुष्यन्तादि नायकोंमें पृथिवीपतित्व और धीरत्वादिका ज्ञान होनेसे वैधमर्यका ज्ञान स्फुट हो जायगा, इस हेतु दुष्यन्तादि नायकोंसे अभेद आपमें नहीं जान सकेंगे, ऐसा हुआ तो साधारणीकृत जो दुष्यन्त और शकुन्तला और देशकालवयःस्थिति इनके होतसन्ते भावकत्व व्यापार तो विरामको प्राप्त हो जायगा, पीछे भोगकत्वरूप जो तृतीय व्यापार उससे रज और तम ये दोनों गुप्त होजायेंगे, पीछे सत्त्वका आविक्य होगा, उससे उत्पन्न हुआ जो साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्ष उससे विषयकृत और भावनामात्रसे गम्य ऐसा जो साधारणीकृत इत्यादि स्थायिभाव सो भोगका विषय होकरिकै रसपदार्थ है । साक्षात्कारका स्वरूप ऐसा है कि आपका जो चिदात्मा सो ही हुआ आनन्द उसकी जो विश्रान्ति अर्थात् विगलितवेद्यान्तरतासे स्थिति सो, अथवा आपका चिदात्मास्वरूप जो आनन्द उसकी जो विगलितवेद्यान्तरतासे स्थिति तत्स्वरूप जो स्थायिभावका भोग सो ही रस है इस रसके समयमें इसही रसमें मनकी विश्रान्ति करतेहैं । इसही अभिप्रायसे ग्रन्थकारने कहा है कि मनका विश्राम जहाँ करते हैं सो रस है, यह बात भृत्यायकने भी कही है कि नटमें रसका आरोप नहीं है, राममें रसकी उपपत्ति भी नहीं है, आत्मामें रस व्यञ्जित भी नहीं होता है, किन्तु अभिधारूप व्यापार जैसा काव्यमात्रमें होता है तिसही प्रकार काव्यनाट्योंमें ही विद्यमान भावकत्व व्यापारसे साधारणीकृत जो विभावादिक सो होतसन्ते तीसरा जो भोगकत्व व्यापार उससे भाव्यमान जो स्थायी सो सत्त्वाविक्यसे उत्पन्न जो स्वप्रकाश और आनन्दमें ऐसा संवित उसकी विश्रान्तिरूप जो पारमार्थिक भोग उससे विषय किये जाते हैं । इस पक्षमें स्थायीआदिका साधारणीकरणफलक जो भावकत्वरूप द्वितीय व्यापार उस व्यापारके बिना ही रसका स्वरूप बनजायगा, फिर यह व्यापारकल्पना क्यों करनी ? इस अभिप्रायसे रसका तीसरा लक्षण कहते हैं “प्रबुद्ध” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि प्रबुद्ध कहिये उद्बुद्ध अर्थात् अभिव्यक्त जो स्थायिभाववासना अर्थात् सूक्ष्म अवस्थापद्मसे व्यवहारके योग्य जो अनुद्बुद्ध संस्कार सो रस है । अभिप्राय इसका यह है कि सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त जो स्थायिभाव सो अभिव्यक्तियुक्त हो जाय वह रस है । इसके प्रबोधक अर्थात् अभिव्यञ्जक विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव हैं । इस पक्षमें भरतसूत्रका अर्थ

यह जानना चाहिये कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव इनके साथ इत्यादिको व्यंग्यव्यञ्जकभावरूप सम्बन्धसे रसकी अर्थात् भग्नावरणचिद्रिशिष्टस्थायीकी निष्पत्ति अर्थात् स्वरूपसे प्रकाश होताहै । यह बात श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादने भी कही है । उनका यह कथन है कि लोकमें कारण कार्य इत्यादि कहकरके व्यवहारयोग्य जो नायिकादि उनसे स्थायिभाव रत्यादिका जो अनुमान उसमें जो अभ्यास उससे जो पटुता अर्थात् शीघ्र प्रवृत्ति होना उससे युक्त जो सामाजिक उनके वासनारूपसे अन्तःकरणमें स्थित जो रत्यादि स्थायिभाव सो काव्यमें गुणालंकारादिद्वारा, नाट्यमें अभिनयद्वारा यथोक्तविभावनात्मकव्यापार-युक्तता होनेसे अलौकिकविभावादिशब्दव्यवहारयोग्य अवस्थायुक्त नायिकादिसे अभिव्यञ्जित होते हैं, इसही हेतु अपटु बालादिको रसाऽभिव्यक्ति नहीं होती है । बहुत क्या कहें दूसरी जो स्वाभाविकी वासना है सो भी स्थायीकी अभिव्यक्तिमें हेतु है । स्वाभाविकी वासना कैसी है कि जिस वासना विना शृंगारी भी जो मीमां-क वैद्याकरणादि हैं उनको रसाऽभिव्यक्ति नहीं होतीहै । यहां यह शंका होती है कि अन्यमें स्थित जो रत्यादिक उनमें स्थित जो विभावादिक उनसे अन्यमें स्थित स्थायीकी अभिव्यक्ति किस प्रकार होगी । इसका समाधान यह है कि हमारे ही ये हैं, शत्रुके ही ये हैं, तटस्थके ही ये हैं इस प्रकारसे जो सम्बन्धविशेषस्वीकारनियम उसका और मेरा ही नहीं है, शत्रुका ही नहीं है, तटस्थकाही नहीं हैं इस प्रकार जी सम्बन्धविशेषपरिहारनियम उसका अनध्यवसाय होनेसे विभावादिकी साधारणतासे प्रतीति होती है । ऐसा हुवा तो इनका ही यह है इस निश्चयको विना जाने हुए जो विभावादिक उनको आपके असम्बन्धका अज्ञान होनेसे आपके सम्बन्धका ज्ञान होनेसे आपको स्थायिभाववासनाकी अभिव्यक्ति होवैगी, सो युक्तही है । फिर यह शंका होती है कि विभावादिकीं साधारणत्व आवश्यक भी होगी तो भी स्थायीको साधारणता किस प्रकार होगी ? क्योंकि स्थायीको तत्त्पुरुषका असाधारणत्व है । कदाचित् यह कहो कि स्थायीको साधारणता मत रहो, असाधारणता भी रहेगी तो भी रसकी अभिव्यक्ति होवैगी, यह कहना युक्त नहीं क्योंकि ऐसा कहो तो सहद्यजनकों रसाऽभिव्यक्तिमें एकरूपता नहीं होसकेगी । कदाचित् कहो कि एकरूपता मत हो, तो यह कहना भी युक्त नहीं क्योंकि ऐसे कहोगे तो अलौकिकविभावादिकल्पनामें भी विश्वास नहीं रहेगा । इसका समाधान यह है कि आपका प्रश्न ठीक है परन्तु उपायभूत विभावादिका पूर्वोक्तसाधारण्यबलसे रसाऽनुभवकालमें स्थायियोंको प्रमातृविशेषमें स्थितिरूप जो परिमितप्रमातृता उसका ज्ञान नहीं है, इस हेतु प्रका-

प्रबोधका विभावाऽनुभावव्यभिचारिणः । न च यूनोः  
प्रथमानुरागेऽव्याप्तिः पूर्वानुभवाभावादिति वाच्यम् ।  
तत्राऽपि जन्मान्तरीयाऽनुभवसत्त्वादिति ।

शित हुआ जो वेदान्तरसम्पर्कशून्य अपरिमित भाव है जिसका ऐसा जो प्रमाता, पुरुष उसने सकलसहदयसंवादकारी जो प्रमातृविशेषसम्बन्धग्रहरूप साधारण्य उससे स्थायी चर्वणाके विषय होते हैं । यहां यह शंका होती है कि चर्वणाविशिष्टस्थायिभावमात्र रस नहीं है क्योंकि श्रुतिसे सहदयजनके प्रमाणसे रसको आनन्दस्वरूपताका आदर है । इसका समाधान यह है कि विज्ञानवादीके मतमें प्रवृत्तिविज्ञान जो है सो घटपटरूप आकारको धारण करता है और घटपटविज्ञानके विषयभी कहाते हैं ऐसा हुआ तो प्रवृत्तिविज्ञानरूप जो घटपटादि सो प्रवृत्तिविज्ञानके विषय कहाते हैं जिस तरह, तिसही तरह चर्वणास्वरूपसे अभिन्न भी आत्मानन्दचर्वणाका विषय हो जायगा सो जानना । वह जो रस है सो चर्वणमाणताका प्रण है अर्थात् जहांतक चर्वण है तहांतक रस है, चर्वणके नाशमें रसभी नष्ट होता है, इस ही हेतु रस विभावादि जीवितावधि कहाता है अर्थात् विभावादिका ज्ञान रहे तब चर्वण होती है विभावादिका ज्ञान न रहे तब चर्वण भी नहीं होती, इसही हेतु रस अनित्य चर्वण है, रसकी चर्वणाके समयमें विभावादिका आपके असाधारणरूपसे ज्ञान नहीं होता है किन्तु पानकर सन्यायसे रसकी चर्वण होती है इस रीतिसे जब रसकी चर्वण होती है तब सहदयको ऐसा मालूम होता है कि बागे ही जैसे परिस्फुरित है, हृदयमें जैसे प्रवेश करता है, सम्पूर्ण अंगका जैसे आँलिंगन करता है और सबका आच्छादन करता ब्रह्मास्वादकी तरह अनुभव कराता अत एव अलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादि रस है सो यह रस विभावादिका कार्य नहीं हो सकता है, क्योंकि जो कार्य मानोगे तो विभावादि इसके निमित्त कारण ही होंगे, ऐसा होगा तो निमित्तकारणके नाशसे कार्यका नाश नहीं होता है इस हेतु विभावादिका नाश होनेपर भी रसकी स्थिति होनी चाहिये सो होती नहीं है, इस हेतु विभावादिका कार्य इसको नहीं कहना । विभावादिको ज्ञाप्य भी नहीं कहना चाहिये क्योंकि, ज्ञाप्य वस्तुका यह नियम है कि वह पहले भी स्वरूपतः स्थित रहती है, तो रस तो पहले स्थित नहीं है । फिर किस प्रकार ज्ञाप्य होगा ? यहां यह शंका हुई कि जब रस ज्ञाप्य भी नहीं हुआ, कार्य भी नहीं हुआ, तब विभावादि न तो इसके कारक होंगे, न ज्ञापक होंगे । और हेतु कहते हैं ऐसा हुआ तो कारक और ज्ञापक इनसे भिन्न हेतु शास्त्रमें कहीं सिद्ध नहीं है, तो विभावादि रसके हेतु कैसे होंगे ? इसका समाधान यह है कि

स च रसो द्विविधः—लौकिकोऽलौकिकश्चेति । लौकिकस-  
न्निकर्षजन्मा रसो लौकिकः । अलौकिकसन्निकर्षजन्मा  
रसोऽलौकिकः । लौकिकसन्निकर्षः षो । विषयगतः ।

इसही हेतु रसको अलौकिकत्व सिद्ध होता है, यह आलंकारिकोंको भूषण है, दूषण नहीं है । रसका विचार विशेष गूढार्थदीषिका नाम काव्यप्रकाशकी व्याख्यामें किया है, यहां विस्तारभयसे इतनाही लिखा है । जिनको विशेष जिज्ञासा होवे वे वहां देखलें ॥ अब प्रकृतका विचार करतेहैं । यहां यह शंका हुई कि प्रबुद्धस्थायि-भाववासनाको रस कहते हो तो नायक नायिकाका जो प्रथमाऽनुराग अर्थात् पूर्वकी रत्नि विभावाऽनुभावसे पूर्ण होगई है तहां रसलक्षणकी अव्याप्ति होगी, क्योंकि वहां प्रबुद्धस्थायि-भाववासना नहीं है क्योंकि पूर्वकालमें विभावाऽनुभावादिका अनुभव नहीं है तो वासना नहीं होसकेगी । इसका समाधान यह है कि विभावादिका इस जन्ममें अनुभव नहीं भी हुआ है तो भी पूर्वजन्मका अनुभव तो है ही इस हेतु स्थायि-भाववासना प्रबुद्धा होसकेगी, इससे अव्याप्ति दोष नहीं होगा ॥

रसका निरूपण तो कर दिया, अब रसका विभाव करना चाहिये परन्तु भरताचार्यने तो रसकी स्थिति नाट्यमें कही है, और श्रीरुद्रने काव्यमें भी रस-स्थिति कही है और नाट्यकाव्यमें जिसका सम्भव नहीं है ऐसा जो रसका लौकिक भेद उसकी दोनोंने ही उपेक्षा की है, परन्तु भानुमिश्रने तो रसस्वरूप निरूपणकी प्रतिज्ञा की है इस हेतु मिश्रको यह भेद अनुपेक्षणीय है इस हेतु उसका विभाग करतेहैं “ स च ” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि वह जो प्रबुद्धस्थायि-भाववासनात्मक रस सो दों प्रकारका है, एक लौकिक दूसरा अलौकिक । तहां लौकिक सन्निकर्षसे उत्पन्न जो रस सो लौकिक है । और अललौकिक सन्निकर्षसे उत्पन्न जो रस सो अलौकिक है । तहां लौकिक सन्निकर्ष विषयके साथ छः प्रकारका होता है, इसका अभिप्राय यह है कि नायक नायिकाओंका जो परस्पर अवलोकन तहां सयोगसन्निकर्ष है, और परस्परनिष्ठ जो कटाक्षादि उनके अवलोकनमें संयुक्तसमयावसंनिकर्ष है, और कटाक्षादिनिष्ठ तारत्व मन्दत्वादि जातिके अवलोकनमें संयुक्तसमवेतसमवाय संनिकर्ष है, और परस्परके शब्दश्रवणमें समवाय संनिकर्ष है शब्दनिष्ठ कोमलत्वकठोरत्वादि जातिके श्रवणमें समवेतसमवाय संनिकर्ष है, कुञ्जादिदेशमें परस्पराभावाऽवलोकनमें विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष है, ये सन्निकर्ष कुछ कामकेनहीं हैं । और सुनिये वासनारूपसे स्थित जो कालान्तरके सम्पूर्ण स्थायि-भाव उनका आपके अव्यवहित

प्राक्कालमें लौकिक सन्निकर्षसे ही उत्पत्ति हुई है, यह जो रसपदार्थनिविष्ट स्थायिभावमें लौकिकसन्निकर्षजन्यता है सो अलौकिकरससे भेदक नहीं है। किन्तु रसोत्पत्तिके निदानभूत जो व्यञ्जक विभावाऽनुभावव्यभिचारी उनमेंसे किसीकी चर्वणोत्पत्तिमें लौकिकसन्निकर्षजन्यत्व होय वही जन्यत्व अलौकिक रससे भेदक जानना। ऐसा हुआ तो विभावादिमेंसे एकमें भी जहाँ लौकिक सन्निकर्ष होय और दोमें अलौकिक सन्निकर्ष होय तदाँ भी रस लौकिक ही जानना। यद्यपि व्यभिचारिभाव जो है सो आन्तर है उसमें लौकिक सन्निकर्ष नहीं होसकता है। ऐसा हुआ तो व्यभिचारिभावका उपादान निर्यक होगया तो भी जिस प्रकार रसव्यञ्जक विभावाऽनुभावमें लौकिकसन्निकर्ष अपेक्षित होता है तिस ही प्रकार रसव्यञ्जक जो व्यभिचारिभावादि उनके अभिव्यञ्जक जो विभावाऽनुभाव उनमें जो लौकिक सन्निकर्ष है उसको भी लौकिक भेदका नियामक मानना युक्त ही है। यहाँ लौकिक भेद नहीं जानना चाहिये, इसही हेतु व्यभिचारिभावका उपादान चर्वणोत्पत्तिमें लौकिकसन्निकर्षजन्यता जो लौकिक रसकी भेदक कहीं है तदाँ कियाहै। ऐसा हुआ तो विभावमात्रको संयोगसन्निकर्षमात्रसे ग्रहणयोग्यत्व है, तथापि गुण वा क्रिया तथा तद्रूपैजात्यादिवटितमूर्तिक अनुभावका छः इन्द्रियोंसे यथायोग्य ग्रहण होसकेगा, इस हेतु नैयायिकको जिस प्रकार सन्निकर्षषट्कभेदसे प्रत्यक्ष छह कहाते हैं, इसही प्रकार लौकिक रसभी छः प्रकारका होगा सो जानना। सामान्यलक्षणसन्निकर्ष, योगजलक्षणसन्निकर्ष ये दोनों न्यायशास्त्रमें सन्निकर्षोंमें प्रसिद्ध भी हैं तो भी प्रकृतमें उनका उपयोग नहीं है इस हेतु ज्ञानरूप जो अलौकिक सन्निकर्ष सो अलौकिक रसमें उपयुक्त जानना। अब यहाँ यह शंका हुई कि अलौकिक रसके जो तीन भेद हैं तदाँ प्रथम जो स्वामिक भेद कहेंगे सो नहीं बन सकताहै क्योंकि विभावादिके अनुभव विना चर्वणा नहीं होसकती है स्वप्रकालमें विभावादिका अनुभव है नहीं तो स्वामिक रस कैसे होगा। इसका समाधान यह है कि स्वप्नस्थलमें भी जाग्रत् अवस्थामें जो विभावादिका अनुभव किया है सोही अनुभव साक्षात् अर्थात् स्वविषयविभावाऽनुभावव्यभिचारिभावचर्वणाऽव्यवहितप्राक्कालवृत्तित्वसम्बन्धसे विभावादिमें स्थित होकरिके रसकों सम्पन्न करेगा। जहाँ एतज्जन्माऽनुभूत ही विभावादि हैं, तदाँ भी पूर्वजन्मका विभावादिका अनुभव स्वविषयविभावाऽनुभावव्यभिचारिचर्वणाऽव्यवहितप्राक्कालिक जो जन्मान्तरीयाऽनुभवजन्यसंस्कार तादृशसंस्कारविषयत्व सम्बन्धसे स्वामिक जो विभावादिपदार्थ उनमें स्थित है, उसके बलसे स्वप्रमें रससम्पत्ति होगी इस प्रकारसे दोनों ही स्थलमें ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्तिसे रससम्पन्न हुआ इस हेतु यह

अलौकिकसन्निकर्षो ज्ञानम् । तेषु चानुभूतेषु साक्षादेतज्ज-  
न्माऽननुभूतेष्वपि तेषु प्राक्तनसंस्कारद्वारा ज्ञानमेव  
प्रत्यासन्तिः । अलौकिको रसस्त्रिधा । स्वाप्निको मानोर-  
थिक औपनायिकश्चेति । औपनायिकश्च काव्यपदपदार्थ-  
चमत्कारे नाट्ये च । परन्तु द्वयोरप्यानन्दरूपता ।  
ननु मानोरथिको रसो न प्रसिद्ध इति चेत् । सत्यम्-  
धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता-  
मानन्दाश्रुपयः पिबन्ति शकुना निश्शंकमंकेशयाः ।  
अस्माकन्तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-  
कीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परिक्षीयते ॥ १ ॥

अलौकिक रस कहाया । सो ही बात “तेषु” इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि विभावादिक जहाँ अनुभूत हैं तहाँ तो अनुभूतविभावादि होत सन्ते साक्षात् अर्थात् उक्तसम्बन्धसे ज्ञान ही अर्थात् जाग्रत् अवस्थाके विभावादिका अनुभव ही इन्द्रियका अलौकिक सम्बन्ध है, और जहाँ स्वप्नका पदार्थ एतज्जन्ममें अनुभूत नहीं है ऐसे विभावादि होत सन्ते प्राक्तनसंस्कारद्वारा अर्थात् संस्कार-वटित पूर्वोक्तसम्बन्धसे पूर्वजन्मका अनुभवरूप ज्ञान ही इन्द्रियका अलौकिक सम्बन्ध है । अलौकिक रस तीन प्रकारका है—स्वाप्निक, मानोरथिक और औपनायिक । तीनों ही प्रकारके रसमें विभावादिकी उपस्थिति समान ही है तो भी भिन्न भिन्न सामग्रीका सम्पादक स्वप्न और मनोरथये दोनों वस्तु स्फुटतासे कह दीं हैं ।

औपनायिक रसमें इन दोनों रसोंसे भेद दिखानेके अर्थ इस रसका विषय कहते हैं “ओपनायिकश्च” इत्यादिसे । इसका अर्थ यह है कि काव्यका जो पद और पदार्थ उसका चमत्कार होत सन्ते औपनायिक रस होता है, और नाट्यमें भी इस ही रीतिसे होता है, इस हेतु काव्य नाट्य इन दोनोंका रसमें परस्पर सामर्ग्रावैचित्र्य नहीं जानना । इन दोनोंको एक ही प्रमाण जानना चाहिये । आहार्यादि जो अभिनयचतुष्य उसको नाट्य कहते हैं । स्वाप्निक और मानोरथिक इन दोनोंमें दुःखमिश्रित भी रस होते हैं तो भी काव्य नाट्यमें एकरूप ही रस होता है सो जानना । अब यहाँ यह शंका होती है कि मानोरथिक रस लोकमें प्रसिद्ध नहीं है फिर यह रस किसतरह कहा । इसका समाधान यह है कि “धन्यानाम्” इत्यादि श्लोकमें मानोरथिक शृंगार रसका श्रवण है इस हेतु मानोरथिक भी रस है सो जानना । श्लोकार्थ यह है कि कोई पुरुष कहता है कि पर्वतकी कन्द्रामें निवास करनेवाले

इत्यादौ मानोरथिकशृंगारश्रवणात्, शास्त्रे सुखस्य वैविध्य-  
गणनाच्च रसेन विना च सुखाऽनुत्पत्तेरिति । तत्र विशेषाः।  
यदाह भरतः—

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।

बीभत्साद्भुतसंज्ञौ च नाट्ये चाष्टौ रसाः स्मृताः ॥ २ ॥  
सकलाधिदैवतं विष्णुः, स च शृङ्गारस्याऽपि दैवतम्,  
तेन सकलाकांक्षाविषयत्वेनाराध्यतया च प्रथमं शृङ्गा-  
रोपन्यासः ।

और परज्योतिका ध्यान करनेवाले जो धन्य पुरुष हैं उनके आनन्दशुजलको निःशंक अंकमें सोतेहुए जो पक्षी सो पान करते हैं। और हमारा तो मनोरथसे कलिपत जो महल और बाफीतट और क्रीडावन और केलिविषयक कौतुक इनका सेवन करनेमें आशु झीण होता है। यहां मानोरथिक शृंगार रसके उद्दीपन विभावोंका वर्णन है सो जानना। और शास्त्रमें सुख तीन प्रकारका कहा है सो सुख रस विना उत्पन्न नहीं होसकता है इस लिये मानोरथिक भी रस मानना चाहिये।

अब रसके विशेष कहते हैं तबां भरतसम्माते दिखाते हैं “शृंगार” इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि नारायण भट्ट अद्भुत रसही एक मानते हैं, और कोई आलंकारिक शृंगारही रस मानते हैं, और आधुनिक कवि बारह प्रकारका रस मानते हैं सो सम्पूर्ण अयुक्त है, इस हेतु भरतजी कहते हैं कि शृंगार हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत ये आठ रस नाट्यमें कहे हैं। यह कहनेका अभिप्राय यह है कि काव्यमें भी इतने रस हैं इसमें विवाद नहीं है। अब यहां यह शंका हुई कि भरतमुनिने कारिकामें प्रथम शृंगारकी गणना क्यों की? इसका समाधान यह है कि सकलका अधिदैवत अर्थात् अन्तरात्मा विष्णु हैं और शृंगारके भी देवता वेही हैं इस हेतु और सकलका आकांक्षाविषय होनेसे यह शृंगार रस पूज्य है इस हेतु प्रथम शृंगार रसकी गणना की सो जानना। अब यहां यह शंका होती है कि आठही रस किस प्रकार कहते हो? १ वात्सल्य, २ भक्ति, ३ लौल्य, ४ कार्पण्य यह चार रस और कहने चाहियें, क्योंकि इन चारों ही रसोंको क्रमसे आर्द्रता, अभिलाष, श्रद्धा, स्पृहा ये चारों ही स्थायिभाव हैं। किर आठही रस क्यों कहते हो? इसका समाधान यह है कि वात्सल्यादि चारों व्यभिचारिभावरूप रतिस्वरूप हैं

ननु वात्सल्यं लौल्यं भक्तिः कार्पण्यं वा कथं न रसः ।  
 आद्रताऽभिलाषश्रद्धास्पृशाणां स्थायिभावानां सत्त्वा-  
 दिति चेत्र । तेषां व्यभिचारिरत्यात्मकस्त्वाद् । ननु कस्य  
 रसस्य ते व्यभिचारिभावा भवेयुरिति चेत् । सत्यम्,  
 वात्सल्ये करुणो रसः । लौल्ये हास्यः । भक्तौ शान्तः ।  
 कार्पण्ये हास्य एव । नन्वेवं परत्र कृत्स्त्वादत्र व्यभिचारि-  
 त्वेनावश्यकत्वाद्विकल्पनातो धर्मकल्पनायां लघुत्वाच्च  
 व्यभिचारिरतिरेवास्तु किं करुणेनेति चेत्र । रतेः शोक  
 इति शोककारणतायां रतेरुपक्षयत्वात् ।

इससे इनको रसस्वरूप नहीं जानना । फिर शंका हुई कि रसमें स्थिति  
 हुये विना व्यभिचारिभाव तो हो नहीं सकते हैं तो ये किस रसके व्यभि-  
 चारिभाव होंगे सो कहो । इसका समाधान यह है कि वात्सल्य होनेपर  
 करुणी रस होता है, लौल्य होनेपर हास्य ही रस होता है, भक्ति होनेपर  
 शान्तही रस होता है, कार्पण्य होनेपर भी हास्य ही होता है, इस हेतु वात्सल्य  
 तो करुण रसका व्यभिचारी है, और लौल्य तथा कार्पण्य ये दोनों हास्यके  
 व्यभिचारिभाव हैं । और भक्ति शान्त रसका व्यभिचारिभाव है, क्योंकि वात्सल्यादि  
 करुणादिको पुष्ट करते हैं सो जानना । अब यहां यह शंका होती है कि  
 वात्सल्यादिको करुणादि रसोंमें व्यभिचारिरतिरूप मानें तो भी शृंगार रसमें  
 स्थायिभावतासे रति मानीही गई, और करुणरसमें व्यभिचारिभावतासे रति आव-  
 श्यक है, इस हेतु और प्रधानभूत करुणरसकल्पनाकी अपेक्षा पोषकतासे आव-  
 श्यक जो रतिमात्र उसकी कल्पनामें लाघव है क्योंकि रसकल्पना नहीं करनी  
 पड़ेगी । व्यभिचारिभाव रतिकल्पनासे ही कार्यसिद्धि होजायगी, इस हेतु करुण रस  
 नहीं मानना, व्यभिचारिरूपरति ही मानना । इसका समाधान यह है कि रति जो  
 है सो शोकका कारण है इस हेतु शोकको सम्पन्नकरिकै रति क्षीण होजायगी,  
 ऐसा हुवा तो करुणचर्वणापर्यन्त रति नहीं रहेगी इस हेतु करुण रस मानना  
 आवश्यक होगा । और सुनो कि करुणरस माने विना रतिको व्यभिचारिभावता  
 भी उपपन्न नहीं होगी क्योंकि किस रसका व्यभिचारी रतिको मानोगे ? शृंगार,  
 हास्य, रौद्र, वरि, इनका नहीं मान सकते हो, क्योंकि युवति युवाओंका पर-  
 स्पर्शीतिरूप जो शृंगार और हास और क्रोध और आनन्द अर्थात् उत्साह इन

किञ्च रतेः कस्य रसस्य व्यभिचारित्वम् । न शृङ्गारहा-  
स्यरौद्रवीराणाम्, युवमिथुनपरस्परप्रीतिहासकोधान-  
न्दानां तत्राभावात् । न वा वीभत्सस्य, जुगुप्सायास्त-  
त्राऽभावात् । नाप्यद्गुतस्य, विस्मयस्य तत्राऽस्थिरत्वात् ।  
तस्माच्छोकस्य स्थायितया शोकस्थायिभावकः करुणा-  
ख्योऽतिरिक्तो रस इति । ननु रतिरेवास्तु, किं हास्येनेति  
चेत् । कस्याऽसौ व्यभिचारिणी, करुणरौद्रवीरभयानकवी-  
भत्सानां न, तत्राऽनवकाशात् । नाप्यद्गुतस्य, विस्मयस्य  
तत्राऽस्थिरत्वात् । न शृङ्गारस्य, रतेः स्थायित्वाभावात् ।  
परन्तु रत्या सह हास्यस्य सांकर्यम् । ननु रतिहास्ययोरसंकी-  
र्णस्थलाभावात्पृथक्त्वं कथं स्यादिति चेत्र । हेतोरसाधा-  
रण्यात् । असाधारण्यमत्र स्थायित्वम् । यथा रतिसां-  
येऽपि स्थायिशोकादसाधारणात्कारणात्करुणो भिव्यते,  
तथा तत्सांकर्येऽपि स्थायिहासभावादसाधारणात्कार-  
णाद्वास्यो भिव्यते । शान्तेष्येवमूद्यम् ।

चारोंकी करुणस्थलकी रतिमें स्थिति नहीं है, तो इन चारोंका व्यभिचारी रति  
कैसे होगा, वीभत्सका भी व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि वीभत्सका स्थायी जो  
जुगुप्सा सो रतिस्थलमें नहीं है । और अद्भुतका भी व्यभिचारी नहीं होसकता है,  
क्योंकि विस्मयकी रतिमें स्थिरता नहीं है किन्तु विस्मय वहां विद्युदियोतप्राय है  
इस हेतु करुण रसका शोक स्थायी होनेसे शोक है स्थायिभाव जिसका ऐसा करु-  
णनाम रस मानना ही चाहिये । यहां फिर यह शंका होती है कि हास्य रस नहीं  
मानना किन्तु हास्यस्थलमें व्यभिचारी रति ही मानना । इसका समाधान यह  
है कि यह रति किसकी व्यभिचारिणी होगी ? कदाचित् कहो कि करुण, रौद्र,  
वीर, भयानक, वीभत्स इनकी व्यभिचारिणी होगी, सो नहीं बनैगा । क्योंकि इन  
सबका उक्त रतिस्थलमें अभाव है, इस हेतु इनका व्यभिचारी नहीं होसकेगा ।  
अद्भुतका व्यभिचारी कहोगे तो सो भी नहीं होसकेगा, क्योंकि विस्मयकी वहां  
स्थिरता नहीं है । शृङ्गारका व्यभिचारी कहो सो भी नहीं होसकता है क्योंकि

न च वात्सल्यादिवप्यसाधारणा हेतव आर्द्रतादयः सन्ती-  
ति तेषामपि रसत्वापत्तिरिति वाच्यम् । आर्द्रतादीनामपि  
रतित्वात् । तस्याश्च तत्रतत्र साधारण्ये शृङ्गाररसत्वा-  
पत्तिः । ननूत्साहकोधावुभयत्र तस्माद्वीररौद्रयोरन्यतर  
एव रसो वर्ततामिति चेन्न, स्थायिभेदेन भेदात् । उत्साहवा-

शुंगारका स्थायी जो रति है सो हास्यका स्थायी नहीं है, तो वह रति शुंगारका व्यभिचरी कैसे होगा ? परन्तु रतिके साथ हास्यरसका सांकर्य है इसका निवारण नहीं कर सकते हैं सो जानना । फिर यह शंका होती है कि रति और हास्य इन दोनोंके एक स्थल रहनेसे इन दोनोंका भेद किस प्रकार होगा ? इसका समाधान यह है कि हेतुको असाधारण्य होनेसे भेद है, असाधारण्य यहां स्थायित्वरूप लेना ॥ जिस प्रकार करुण रसमें रतिका सांकर्य भी है तो भी स्थायिशोकरूप असाधा-रण कारणसे करुण रस रतिसे भिन्न होताहै, तिस प्रकार हास्य रसमें रतिका सांकर्य भी है तो भी स्थायिहासरूप असाधारण कारणसे हास्य रस रतिसे भिन्न होताहै । यही न्याय शान्त रसमें भी कह देना, अर्थात् शान्त रसको रतिसांकर्य भी है तो भी निर्वेदस्थायीरूप असाधारण कारणसे शान्त रस रतिसे भिन्न जानना । अब यहां यह शंका होती है कि असाधारण स्थायिभाव होनेसे ही रस मानो तो वात्सल्यादिमें भी असाधारण हेतु आर्द्रतादि है ही तो उन असाधारण हेतुओंसे वात्सल्यादिको भी रस मानना चाहिये । इसका समाधान यह है कि आर्द्रतादि भी रति-रूप हैं उनको वात्सल्यादिका स्थायित्व नहीं है । यदि आपकी प्रौढतासे आर्द्रतादि रूप रतिको वात्सल्यादिमें असाधारण हेतु मानो तो वात्सल्यादि भी रतिरूपस्थायिभावक होनेसे शुंगाररसरूप होजायेंगे, इस हेतु वह आर्द्रतादिरूप रति वात्सल्यादिका स्थायी नहीं है सो जानना । यहां यह शंका होती है कि आर्द्रतादिरूप रतिको खीपुरुषविषयकत्व नहीं है इस हेतु वात्सल्यादि शुंगाररसरूप कैसे होंगे ? इसका समाधान यह है कि रतिसे उत्पन्न जो खीपुरुषविषयक शोक उस शोकप्रकृतिक होनेसे अवश्य कल्पनीय जो करुण रस उसका पोषक रतिरूप आर्द्रतादिको माननेसे ही उपपत्ति होगी । यहां वात्सल्यादि रसान्तर माननेमें कुछ प्रमाण नहीं सो जानना । फिर शंका होती है कि उस करुण रसमें रति प्रकृतिकत्व मानना अथवा रतिसमूतशोक प्रकृतिकत्व मानना, इसमें कोई विनिगमक नहीं, इस हेतु जो

सना वीरे न तु रौद्रे । क्रोधवासना रौद्रेन तु वीरे । यूनोः परस्परं परिपूर्णः प्रमोदः सम्यकसम्पूर्णरतिभावो वा शृङ्गारः । यूनोरेकत्र प्रमोदस्य रतेवाधिकये न्यूनतायां व्यतिरेके वा परिपूर्तेरभावात् रसाभासत्वमिति । स च द्विविधः—संयोगो विप्रलम्भश्चेति । तत्र दर्शनस्पर्शनसंलापादिभिरितरेतरमनुभूयमानं सुखं परस्परसंयोगेनोत्पव्यमान आनन्दो वा संयोगः । संयोगो बहिरिन्द्रियसम्बन्धः । अस्थ दैवतं विष्णुर्वर्णः श्यामः । यथा—

रतिप्रकृतिकत्व भी करुणका मानो तो करुणको भी शृंगाररसत्वापत्ति होगी । इस का समाधान यह है कि दूसरे रसमें विजातीयप्रकृतिकत्वका सम्भव होत सन्ते रसान्तरप्रकृतिकत्व मानना उचित नहीं इस लिये और रतिके अनुभावसे विरुद्ध अनुभाव होनेसे रतिविजातीय जो शोक तत्प्रकृतिकत्वका करुणमें अध्यवसाय होताहै, इस हेतु रतिप्रकृतिकत्व इसको नहीं है, ऐसा हुआ तो करुणको शृंगाररसत्वापत्ति नहीं हुई, इस ही हेतु पहले कह आयेहैं कि करुणचर्वणके समयमें रतिका नाश होजाताहै सो जानना । तो रतिप्रकृतिक करुण रस नहीं कहाया । अब यह शंका होती है कि उत्साह और क्रोध ये दोनों क्रमसे रौद्र, वीरमें होतेहैं इस हेतु रौद्र, वीर दोनोंमेंसे एकको रस मानना चाहिये और एकको व्यभिचारीरतिरूप मानना चाहिये । इसका समाधान यह है कि स्थायिभावभेदसे रसभेद होगा सो भेद इस प्रकार है कि उत्साहकी वासना वीरमें रहती है रौद्रमें नहीं रहती है, और क्रोधकी वासना रौद्रमें रहती है वीरमें नहीं रहती है, यह कहनेका अभिप्राय यह है कि वीर रसमें क्रोध व्यभिचारी रतिरूप होगा तो भी रौद्रमें स्थायी है, इस ही प्रकार उत्साहको रौद्रमें व्यभिचारित्व है तो भी वीरमें स्थायित्व है, इस हेतुसे और एकको रसरूप मानना एकको न मानना इसमें प्रमाण न होनेसे दोनों ही रसरूप हैं । इसमें विवाद नहीं करना ॥

स्थायीसे युक्त जो आनन्द अथवा आनन्दसे युक्त जो स्थायी सो रस है, यह पूर्व कहाहै उस हीके अनुसार प्रथम शृंगारका लक्षण कहतेहैं “यूनोः परस्परम्” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि युवति और युवा इनका परस्परपरिपूर्ण अर्थात् यथोचित विभावानुभावव्यभिचारिनिष्पत्तरतियुक्त जो प्रमोद अर्थात्

स्तोभेन चाटुवचनानि पराहतानि  
पाणिः पयोधरगतो जडतां जगाम ।  
लक्ष्म्याः परन्तु पृथुवेपथुरेव नीवीं  
विसंसयन्सुहृदभून्मधुसूदनस्य ॥ ३ ॥

यथा वा—

निद्राणो क्षणमुन्नमय्य वदनं कान्ते कुचान्तःस्पृशि  
स्स्तव्यस्तदुकूलदर्शितबलिप्रव्यक्तनाभिश्रियः ।

आनन्द सो शृंगार रस है। अथवा सम्यक् कहिये उचिततासे परिपूर्ण अर्थात् विभावाऽनुभावव्यभिचारियोंसे भग्न हुआ है आवरण जिसका ऐसा जो चित् तादृशचित्तसे युक्त जो रतिरूप स्थायिभाव सो शृंगार है। ऐसा हुआ तो यहाँ युवति युवा इन दोनोंमें एकका प्रमोद वा राते अधिक होय वा न्यून होय वा एकमें होय ही नहीं, तहाँ परिपूर्णताका अभाव होनेसे रसाभास जानना, रस नहीं जानना। यह कहनेसे लक्षणमें परस्पर औचित्यका प्रयोजन दिखा दिया। जो औचित्यपद न देते तो यह भी शृंगार कहा जाता सो जानना। वह शृंगार दो प्रकारका है, एक सम्भोग दूसरा विप्रलम्भ। तहाँ दर्शन, स्पर्शन, संलाप, अर्थात् परस्परभाषण इत्यादिसे परस्पर जो अनुभूयमान सुख सो सम्भोग है, अथवा परस्परसंयोगसे अर्थात् वहिरिन्द्रियसम्बन्धसे उत्पद्यमान जो आनन्द सो संभोग है। शृंगार रसका देवता विष्णु हैं। और वर्ण श्याम है। यद्यपि शृंगार रसको अमूर्तत्व होनेसे श्याम वर्णका संभव नहीं है तथापि इसका देवता जो विष्णु सो श्यामवर्ण है उस देवताकी अभेदबुद्धि रसमें करिके शृंगार रसमें भी श्यामवर्णका व्यवहार है सो जानना। इसका उदाहरण “स्तोभेन” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि मधुसूदनके चाटुवचन अर्थात् प्रिय वाक्य जे हैं वे स्तोभ कहिये प्रलयस्वरभंगादिसात्त्विकभाव-संबन्धसे निवृत्त होगये। और मधुसूदनका जो हस्त है सो स्तनमें प्राप्त होत सन्ते जडताको प्राप्त होगया, तथापि लक्ष्मीका गुरुभूत कंपही नीवीका मोचन करता हुआ मधुसूदनका मित्र होगया शर्थात् उनके कार्यका करनेवाला हुआ ॥

इसका द्वितीय उदाहरण कहते हैं “निद्राणः” इत्यादि श्लोकसे। श्लोकार्थ यह है कि निद्रासे मुकुलित नेत्र हैं जिसमें ऐसे मुखको ऊँचा करिके स्तनके मध्यमें स्थापित किया है हस्ताय जिसने ऐसा कृशा होत सन्ते प्रथम तो शिथिल और पीछे पतित

राधाया दरधूर्णदुत्पलदलद्रोणीमद्द्रोहिभि-

ईक्षोणस्य तरंगितैर्विरचितो दीर्घायुरेव स्मरः ॥ ४ ॥

देशानां समयानां नाथिकानां च भेदेन नायकयोरवस्था-  
भेदेन च बहवो भेदाः । ते च रसमञ्जर्यां विशेषतो  
दर्शिताः । इह पुनर्विस्तरभिया न प्रदर्श्यन्त इति ॥

अथ हावा निरूप्यन्ते । तत्र भरतः-

लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चित्तम् ।

मोद्वायितं कुट्टमितं विव्वोको ललितं तथा ॥

विहृतं चेति विज्ञेया दश हावास्तु योषितः ॥ ५ ॥

नारीणां शृंगारचेष्टा हावः । स च स्वभावजो नारीणाम्  
ननु विव्वोकविलासविच्छित्तिविभ्रमाः पुरुषाणामपि सम्भ-

ऐसा जो दुकूल उसमें दिखाई गई जो त्रिवली और प्रकटनाभि उससे शोभा-  
युक्त ऐसी राधाके ईषत्कम्पयुक्तकमलपत्रका जो पुट उसके मदको नहीं सहनेवाली  
अर्थात् मदसे सुन्दर ऐसे जो दृष्टिके कोणके तरंगित अर्थात् नेत्रप्रान्तके पतन  
उनसे स्मर जो कामदेव सो दीर्घायु ही किया गया । देश, समय, नाथिका इनके  
भेदसे और नायक नाथिकाओंकी अवस्था अर्थात् स्वभावभेदसे शृंगार रसके बहुत  
भेद हैं सो रसमञ्जरीमें विशेषतः दिखाये हैं, यहां विस्तारभयसे नहीं दिखाते हैं ।

अब यहां प्रसंगसंगतिसे हावनिरूपणकी प्रतिज्ञा करते हैं “अथ” इत्यादि  
वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि सम्भोगशृंगारनिरूपणानन्तर हावोंका निरूपण  
करते हैं । हावोंका नाम “तत्र” इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि  
खियोंके लीला आदिदश हाव हैं । सामान्यसे हावका लक्षण यह है कि खियोंकी जो  
शृंगारचेष्टा अर्थात् सम्भोगशृंगारानुग्रुण व्यापारविशेष सो हाव है । वह खियोंको  
स्वभावसिद्ध हैं ऐसा हुआ तो नारीस्वभावसे उत्पन्न होत सन्ते जो शृंगारानुग्रुण  
चेष्टा उसका हाव कहना । यहां सत्यन्तका फल “ननु” इत्यादि ग्रन्थसे  
कहते हैं । इसको अर्थ यह है कि विव्वोक, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम ये  
चार शृंगारचेष्टा पुरुषोंको भी होसकती हैं, तो इनको भी हाव कहनाचाहिये,  
इसही दोषके वारणके निमित्त सत्यन्त विशेषण देना तब यह दोष नहीं  
झोगा, क्योंकि पुरुषोंकी जो ये चेष्टा हैं सो औपचारिक हैं अर्थात् उद्दीपक

वन्तीति चेत् । सत्यम्, तेषान्त्वौपाधिकाः स्वभावजाः  
स्त्रीणामेव । नन्वेवं यदि तासां सदैव ते कथं न भवन्तीति  
चेत् । सत्यम्, उदीपकान्वयव्यतिरेकाभ्यां नायिकानां  
हावाविर्भावतिरोभावाविति । लीलाविलासविच्छिन्नि-  
विभ्रमललितानि शारीराणि । मौट्टायितकुट्टमितविवोक-  
विहृतान्यान्तराणि । किलकिञ्चित्मुभयसङ्कीर्णमिति ।  
प्रियभूषणवचनाद्यनुकृतिलीला । तत्र विभावः सखीकौ-  
तुककलापः । अनुभावः प्रियपरिहासः । यथा-

निष्ठ जो उत्कर्षरूप उपाधि उसकी सत्तासे नियत है सत्ता जिनकी ऐसै हैं । और ये विवोकादिक स्त्रीकोही स्वभावसे हैं अर्थात् उदीपकस्वरूपमात्रसत्तासे नियत है सत्ता जिनकी ऐसे हैं, इससे पुरुषचेष्टा जो विवोकादि उनमें अतिव्याप्ति नहीं हुई । यहां कोई अभिप्रायानभिज्ञ शंका करते हैं कि ऐसा ही मानते हो तो स्त्रियोंको ये चेष्टा सदैव क्यों नहीं होती हैं क्योंकि स्वभाव चिरन्तन होता है, इस हेतु इन चेष्टाओंको भी सदा होना चाहिये । इसका समाधान आपके अभिप्रायका प्रकाशकरिकै करते हैं कि नायिकाओंका जो हावका आविर्भाव वा तिरोभाव सो उदीपकके अन्वय व्यतिरेकका अनभिधान करता है अर्थात् उदीपन करता है तब इन चेष्टाओंका आविर्भाव रहता है । और उदीपक न रहें तब इनका तिरो-भाव होजाता है, पुरुषको तो उदीपकातिशयके साथ अन्वय व्यतिरेक होता है इस हेतु स्त्रियोंको सदा हाव नहीं होते हैं सो जानना । अब हावोंका विभाग करते हैं कि लीला, विलास, विच्छिन्नि, विभ्रम और ललित यह पांच शरीरमात्राश्रित हैं । और मौट्टायित, कुट्टमित, विवोक और विहृत ये चार आन्तर अर्थात् मनोमात्राश्रित हैं । और किलकिञ्चित् शरीर और अन्तर उभयाश्रित हैं, इसका अभिप्राय यह है कि श्रम जो है सो तो शारीर है, और अभिलाष जो है सो आन्तर है, इस हेतु गर्व, स्मित, हर्ष, भय और क्रोध इनको स्वरूपसे किलकिञ्चित् मानो तब तो ये आन्तर हैं, और फलकरिकै किलकिञ्चित् मानो तो शारीर हैं । इस हेतु एतदन्यतमद्यटितसमुदायात्मक किलकिञ्चित्को उभय संकीर्णत्व है सो जानना ।

अब प्रथमोद्दिष्ट लीलाका लक्षण कहते हैं “प्रियभूषण” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि पतिके भूषण वा वचन इत्यादिका जो अनुकरण

चण्डाशौ चरमाद्रिचुम्बिनि मनो जिज्ञासितुं सुभूवां  
 न्यञ्चत्कौतुकया तया विरचिते वंशीरवे राधया ।  
 एष स्फूर्जति कस्य निस्वन इति क्रोधाद्रजन्काननं  
 राधां वीक्ष्य लताप्रतानपिहितां स्मेरो हरिः पातु नः ॥ ६ ॥  
 गमननयनवदनभूप्रभृतीनां यः कश्चिदुत्पव्यते विशेषः स  
 विलासः । अत्र विभावाः प्रियदर्शनस्मरणादयः । अनुभावा  
 अभिलाषवैदग्ध्यप्रकाशनादयः । यथा—  
 कूजत्काञ्चि दरस्फुरद्वलि चलद्भूवल्लि वेल्लद्वु—  
 वैलगत्कुण्डलकान्ति साचिचलितश्रीवं लपन्त्या वचः ।  
 प्रातर्नर्तितपुण्डरीकपरिषत्पांडित्यपाटच्चरी—  
 दृष्टिर्थं प्रति जायते वरतनोर्वक्ता स शकाधिकः ॥ ७ ॥

सो लीला है । इसका विभाव सखीके साथ कौतुककलाप है । अनुभाव प्रियपरिहास है । इसका उदाहरण “चण्डाशौ” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि सूर्य अस्ताचलको प्राप्त होत सन्ते सुन्दर भुक्तियुक्त नायिकाओंकी अन्तःकरणवृत्तिकी परीक्षा करनेके अर्थ उत्पन्न हुआ है कौतुक जिसको ऐसी प्रौढ राधाने मुरलीका नाद करत सन्ते “यह शब्द किसका है” इस प्रकार क्रोधसे राधाश्रित वनको जाताहुआ विस्तृत लता-से ढकी हुई राधाको देखकरिैक स्मितयुक्त कृष्ण हमारी रक्षा करो ।

अब विलासका लक्षण कहते हैं ‘गमन’ इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि गमन, नयन, वदन, भू इत्यादिका जो कोई विशेष उत्पन्न होता है सो विलास है । इसके विभाव प्रियका दर्शन, प्रियका स्मरण इत्यादि हैं । और अनुभाव-अभिलाष, चतुरताका प्रकाश करना इत्यादि हैं । इसका उदाहरण “कूजत्काञ्चि” इत्यादि इकोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि शब्दयुक्त है मेखला जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और ईपत्र प्रकाशित होती है त्रिवली जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और चलती हुई है भूवल्ली अर्थात् बलीस-द्वा भू जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और चलायमान है शरीर जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और चलायमान कुण्डलकी शोभा है जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और वक्र है श्रीवा जिस क्रियामें जैसे होय तैसे वचनका आलाप करती हुई ऐसी

कतिपयभूषाविन्यासो विच्छितिः । तत्र विभावाः सौकु-  
मार्यप्रियसौभाग्यसौन्दर्यगर्वकोघक्षेशादयः । अनुभावा-  
र्गवमानक्षेशप्रकाशनादयः । यथा-

केयूरं न करे पदे न कटकं मौलौ न माला पुनः  
कस्तूरीतिलकं तथाऽपि तनुते संसारसारं श्रियम् ।  
सर्वाधिक्यमलेखि भालफलके यद्वेधसा सुभ्रुतो  
जानीमः किमु तत्र मन्मथमहीपालेन मुद्रा कृता ॥ ८ ॥  
वागङ्गभूषणानां स्थानविपर्यासो विभ्रमः । तत्र विभावा-  
धनमदरागौत्कृत्यादयः । अनुभावाः प्रियसख्याद्युपहासा-  
दयः । यथा-

त्यक्ते केलिविधौ निजांशुकधिया पीताम्बरस्यांशुकं  
पद्मायाः परिधाय पद्मशयनात्प्रातः प्रयान्त्या बहिः ।

जो सुन्दरशरीरयुक्त नायिका उसकी प्रातःकालमें नृत्य करते हुए जो कमल उनकी जो सभा उसकी जो शोभा उसका अपदारण करनेवाली ऐसी है जिस पुरुषको उद्देश-  
करिके बक्त होती है वह पुरुष अनायाससे स्वर्गफलाभिमुख्य होनेसे इन्द्रसे अविक है।

अब विच्छितिका लक्षण कहते हैं “ कतिपय ” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि कुछ भूषणोंका जो धारण करना सो विच्छिति है । इसके विभाव-सुकुमारता, श्रियकी उदारता, सौन्दर्य, गर्व, क्रोध, क्षेश इत्यादि हैं और अनुभाव-गर्व, मान और क्षेश, इनका प्रकाश करना है । इसका उदाहरण “ केयूरम् ” त्यादि श्लोकसे कहते हैं, श्लोकार्थ यह है कि यद्यपि हाथमें वाहुभूषण नहीं है; और पगमें कटक नहीं है, और मस्तकमें माला नहीं है, तथाऽपि ललाटमें जो कस्तूरी-  
तिलक है सो सर्वातिशययुक्त शोभाको करता है । ( इसमें उत्प्रेक्षा करते हैं कि ) मानो ब्रह्माने इस नायिकाके ललाटदेशसे जो सब विधिका अर्थात् ललनाचूडाम-  
णित्व लिखा है उसमें कामदेवरूप राजाने यह कस्तूरीतिलकरूप जो मुद्रा है सो यथार्थताको सूचन करनेके निमित्त कीहै, यह बात जानते हैं ॥ अब विभ्रमका लक्षण कहते हैं “ वागङ्ग ” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि दचन, अंगभूषण इनका जो स्थानविपर्यय अर्थात् स्थानका उलटापलटा होना सो विभ्रम है । इसके विभाव-धन, मद, राग इनकी उत्कृत्ता है और अनुभाव-प्रिय और सखी इनका परिहास है । इसका उदाहरण “ त्यक्तेकेलि ” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ

आदातुं वसनाञ्चलं चपलयन्कोपं दशा दर्शयन्  
 वाचा कौतुकमाचरन्स्मतसुधास्निग्धो हरिः पातुनः ॥ ९ ॥  
 श्रमाभिलाषगर्वस्मितहर्षभयकुधां सङ्करः किलकिञ्चित्म् ।  
 तदाह—

श्रमाभिलाषगर्वाणां स्मितहर्षभयकुधाम् ।  
 असङ्कृतसङ्करः प्राज्ञैर्विज्ञेयं किलकिञ्चित्म् ॥ १० ॥  
 अत्र विभावा नवयौवनोद्देदचाञ्चल्यादयः । अनुभावाः  
 कर्तव्यानिर्धारणादयः । यथा—  
 कोदण्डमारोहति चण्डमानं मधुव्रतः कांक्षति शोणिमानम् ।  
 पद्मं सुधां वर्षति वेपमानं स्वर्णचलः स्विद्यति किं निदानम् ॥ ११ ॥

यथा वा—

यह है कि कीड़ाविधिका त्याग होत सन्ते आपके वस्त्रकी बुद्धिसे विष्णुके वस्त्रको पहर करिकै प्रातःकालमें पद्मज्ञयनसे बाहर जाती हुई जो लक्ष्मी उससे वस्त्रको ग्रहण करनेके अर्थ उनके वस्त्रको तुमारा यह है इस प्रकार चपलता करते हुए और नेत्रसे कोपको दिखाते हुए और वचनसे कौतुक करते हुए जो स्मितसुधास्निग्ध अर्थात् हास्ययुक्तान्त्रःकरण कृष्ण सो हमारी रक्षा करो ॥ अब किलकिञ्चित्का लक्षण कहते हैं “ श्रमाऽभिलाष ” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि श्रम अर्थात् गात्रगौरवत्वादि और अभिलाष, गर्व, स्मित, हर्ष, भय, कोघ इनका जो सांकर्य अर्थात् परस्पर सामानाविकरण्य सो किलकिञ्चित है । इसमें प्रमाण कहते हैं “ तदाह ” इत्यादिसे । कारिकार्थ यह है कि श्रम, अभिलाष, गर्व, स्मित, हर्ष, भय, कोघ इनका जो वारंवार संकर सो पण्डितोंने किलकिञ्चित जानना । इसके विभाव-नवयौवनोद्देद अर्थात् नव यौवनकी प्राप्ति और चञ्चलता इत्यादि हैं और अनुभाव-कर्तव्यका अनिश्चयादि हैं ।

अब इसका उदाहरण “ कोदण्डम् ” इत्यादि क्षोकते कहते हैं, क्षोकार्थ यह है कि कोदण्ड अर्थात् कोदण्डत्वसे अध्यवसित भुकुटियुगल जो है सो चण्डमा अर्थात् कुटिलताको धारण करता है ( यह कहनेसे गर्वाऽनुभावका कथन किया ) और मधुव्रत अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित नेत्र जो है सो शोणिमा अर्थात् रक्ताकों धारण करता है ( इससे कोघका अनुभाव दिखाया ) और पद्म अर्थात्

क्रोधागारसमुत्थिताः समुदयत्संत्रासशैलार्दिताः  
 व्रीडाभिः परिमर्दिताः स्मितसुधाधाराभिरुद्धर्तिताः ।  
 स्नाताः स्नेहरसैर्मनोभवकलामालाभिराभूषिताः  
 पायासुर्मयि शैलराजदुहितुः स्फीताः कटाक्षच्छटाः ॥ १२ ॥  
 वार्तावैमुख्ये सति निभृतभूयोदर्शनस्पृहा मोहायितम् ।  
 अत्र विभावाः सपत्नीत्रासलज्जादयः । अनुभावा मनःप्रेम-  
 कथनसङ्घेतनिवेदनादयः । यथा—

तत्त्वसे अध्यवसित मुख जो है सो अमृतका अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित प्रसादका वर्णण करता है (इससे हासका अनुभाव दिखाया) परम कैसा है सो कहते हैं कि वेषमान अर्थात् कांपता हुआ (यह कहनेसे भयका अनुभाव दिखाया) और स्वर्णाचल अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित कुचमण्डल जो है सो स्वेदयुक्त होता है (इससे हर्षाऽनुभाव कहा) इसमें क्या निदान अर्थात् क्या हेतु है यह नाथिकाके प्रति नायककी उक्ति है सो जानना । यहां किलकिञ्चित्के अनुभाव कहे हैं ॥

अब कोई स्थलमें सम्पूर्णका सांकर्य भी किलकिञ्चित्होक्तसे । इलोकार्य यह है कि क्रोधके आगार अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित लोचनसे आये हुये और सम्यक् प्रकार उदयको प्राप्त अर्थात् तत्कालमें आविर्भूत जो संत्रास अर्थात् भय वही हुआ पर्वत, उससे अर्दित अर्थात् बीचमें रोकेगये ऐसे, और व्रीडा अर्थात् व्रीडाव्यञ्जक हर्षी परिमर्दित अर्थात् स्पर्श कियेगये ऐसे, और स्मित कहिये ईषत् हासरूप जो सुधा उसकी धारासे उद्धर्तित किये गये ऐसे, और स्नेह रस अर्थात् अभिलाष करिके स्नानको प्राप्त ऐसे, और मनोभवकलामाला अर्थात् कामोदीपनचतुरचनापरम्परासे जो गर्वातिशय उससे भूषित ऐसे, और स्फीत अर्थात् वृद्धिको प्राप्त ऐसे जो हिमालयसुता पार्वतीके श्रमभरसे कटाक्षच्छटा अर्थात् अपांगपात सो हमारी रक्षा करो । इसका अभिप्राय यह है कि विवाहोत्तर महादेवके समीप पार्वतीकों लानेवाली जो सखी उस सखीने पार्वतीके साथ परिहास किया, तब पार्वतीको क्रोधं हुआ, पीछे भय हुआ, फिर लज्जा हुई अर्थात् हर्ष हुआ, फिर हास हुआ, फिर रमण हुआ, तत्कालिक ये कटाक्षच्छटा हैं सो जानना ॥ अब मोहायितका लक्षण कहते हैं “वार्तावैमुख्य” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि वागादिव्यापारविषयकद्रेष्वत्त्व होत सन्ते

न स्नेहस्य कथारसं कथमपि श्रोतुं समुत्कण्ठते  
 राधा किन्तु विकीर्णरत्नकपटादागत्य सौधाद्विः ।  
 नृत्यवेत्रपुटि स्फुरत्कुचवटि स्वेदोङ्गसदोऽस्तटि  
 व्यावलगङ्गुकुटि सखलत्कटि पुनःकृष्णान्तिके भ्राम्यति॥ १३ ॥  
 सुखे दुःखचेष्टा कुट्टमितम् । अत्र विभावा रागौत्कटयदशन-  
 करजक्षतकुन्तलाधरयहादयः । अनुभावाः कपटकायसङ्गो-  
 चकपटसीत्कारादयः । यथा—

रोङ्गुं पाणिः प्रचलति चिरादङ्गुलिर्निश्चलाऽसौ  
 भ्रूविक्षेपो भवति कुटिलो नेत्रमन्तःप्रसन्नम् ।

निभृत अर्थात् औरसे अपरिचित जो वारंवार दर्शन अर्थात् हृव्यापार उसकी जो इच्छा सो मोट्टायित है । इसके विभाव—सप्तनीत्रास लज्जा आदि हैं । और अनुभाव—अन्तःकरणके प्रेमका कथन और संकेतनिवेदन इत्यादि हैं । इसका उदाहरण “न स्नेहस्य” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि राधा जो है सो प्रेमके आस्वादयुक्त जो कथा उसको कोई प्रकारसे भी सुननेकी इच्छा नहीं करती है ( यह कहनेसे द्रेष सूचित किया ) किन्तु विखरे हुए जो रत्न उनके छलसे कोठासे बाहर आकरिके नृत्ययुक्त है नेत्रपुटी जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और भ्रूविक्षेपो भवति कुटिलो नेत्रमन्तःप्रसन्नम् ।

अब कुट्टमितका लक्षण कहते हैं “सुखे दुःख” इत्यादिवाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि सुखमें जो हुःखचेष्टा अर्थात् इस चेष्टासे नायिकों दुःखावगम होवो ऐसी इच्छा सो कुट्टमित है । इसके विभाव—रागका उत्कर्ष और दन्तक्षत और नखक्षत और कुन्तल और अधर इनका ग्रहण इत्यादि हैं और अनुभाव कपटसे शरीरका संकोच और कपटसे सीत्कार इत्यादि हैं । इसका उदाहरण “रोङ्गुम्” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि सुन्दरशरीरयुक्त नायिकाका हस्त जो है सो नीवीका निरोध करनेको विलम्बसे चलताहै और अंगुली जो हैं सो निश्चल हैं अर्थात् स्वामिकर्त्तक नीविमोचनप्रतिबन्धक जो चेष्टा उससे रहित हैं और भुकुटीका जो

गाढाश्लेषे भवति सुतनोर्धमात्रो नकारः  
 कम्पो मूर्धन्मः प्रसरति मुखं सम्मुखं न प्रथाति ॥ १४ ॥

गर्वाभिमानसम्भूतो विकारोऽनादरात्मा विव्वोकः । अत्र  
 विभावा यौवनमदधनमदकुलमदप्रियाऽपराधादयः । अनु-  
 भावा अवहित्थदुर्वचनदुष्प्रेक्षणादयः । यथा—  
 कृताज्ञिः कातरहङ्गनिपातः प्राणेश्वरः पार्वमुपाजगाम ।  
 सखीमुखे कुण्डलरत्नरेखामेषापुनः प्रेक्षितुमाचकाङ्ग ॥ १५ ॥

सकलाङ्गसमीचीनविन्यासो ललितम् । अत्रैव स्मिता-  
 दयोऽन्तर्भवन्ति । तत्र विभावा मनःप्रसादप्रियतमद्वाद-  
 ऽनुरागधीरत्वादयः । अनुभावाः प्रियवशीकरणलोकाऽनु-  
 रागचमत्कारादयः । यथा—

विक्षेप सो कुटिल है अर्थात् कोधसूचकतासे वक्र है और भीतर नेत्र प्रसन्न हैं । और गाढ आँलिंगन होत सन्तें अर्धमात्र नकार होता है, और मस्तकका कंप होता है, और मुख जो है सो प्रियके सन्मुख नहीं जाता है । अब विव्वोकका लक्षण कहते हैं “गर्व” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि गर्व और अभिमान इनसे उत्पन्न जो अनादर अर्थात् तिरस्काररूप विकार सो विव्वोक है । इसके विभाव यौवनमद, धनमद, कुलमद, प्रियका अपराध इत्यादि हैं और अनभाव अवहित्थ, दुर्वचन, दुष्प्रेक्षण इत्यादि हैं । इसका उदाहरण “कृताज्ञिः” इत्याद श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि कातर अर्थात् भयचकित है हृष्टिपात जिसका ऐसा और जो प्राणेश्वर सो जोड़े हैं हात जिसने ऐसा होतसन्ते उसके पृष्ठतः समीप आता भया और यह नायिका ताटकरचित वैदूर्यादिकान्तियुक्त जो कुण्डल उनकी रत्नरेखा सखीमुखमें स्थित उसको देखनेको पुनः आकांक्षा करती भई ।

अब ललितका लक्षण “सकलाङ्ग” इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि सम्पूर्ण अंगोंका समीचीनतासे जो विन्यास अर्थात् प्रसाधन सो ललित है । श्लोक—“धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि विश्रब्धचादुकशतानि रतान्तरेषु । नीवी-  
 म्प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥” रसकथापरा जो सखियां उनके मध्यमें रतिकालिक स्वप्रियालापकी कहनेवाली जो कोई सखी उस सखीका प्रहास करनेवाली जो कोई सखी उसकी यह उक्ति है । इसमें

कलकणितमेखलं च पलचारुनेत्राश्वलं

प्रसन्नमुखमण्डलं श्रवणसञ्चरत्कुण्डलम् ।

स्फुरत्पुलकबन्धुरं लपितशोभमानाधरं

विहस्य रतिमन्दिरे ब्रजति कस्य शातोदरी ॥ १६ ॥

प्रियसन्निधावभिलाषापरिपूर्तिर्विहृतम् । तत्र व्याजलज्जा-  
दयो विभावाः । अनुभावा अन्यथाचेष्टिआन्यथाव्यवहा-  
रादयः । व्याजाद्यथा-

अभिलषति कपोले चन्द्रचूडे विधातुं तिलकमुदयदन्तः  
कोपभाजा भवान्या । फणिपतिभयकूटादंगमुत्कम्प-  
यन्त्या प्रचलवसनया तैर्विनिताः केलिदीपाः ॥ १७ ॥

धन्याऽसि यह जो कहा यह कहनेसे व्यञ्जित जो परोपहासरूप स्मित उसको  
हावोंमें अधिक कहना चाहिये यह शंका कोई करता है, सो युक्त नहीं क्योंकि  
यह जो उपदासरूप स्मित है सो ललितमें अन्तर्भूत है । इस ललितके विभाव-  
मनकी प्रसन्नता, प्रियतमका हृद अनुराग और धीरता इत्यादि हैं । अनुभाव-  
प्रियवशीकरण, लोकानुराग, चमत्कार इत्यादि हैं । इसका उदाहरण “कलक-  
णित” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि कृशोदरी जो नायिका सों  
हँस करिकै कोई महामहिमाशाली पुण्ययुक्त पुरुषके क्रीडागृहमें मधुर ध्वनियुक्त  
है मेखला जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और चश्चल अतएव रमणीय है नेत्रपक्षम  
जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और आन्तरसुखानुभावभूतप्रसादसहित है मण्डलाकार  
मुख जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और दोनों कानोंमें चलते हुए हैं कुण्डल जिस  
क्रियामें जैसे होय तैसे, और प्रकाशमान जो पुलकादि परम सूक्ष्म विकार सो है जिसमें  
ऐसे बन्धुर अर्थात् नीचा ऊँचा नाभिस्तनप्रधान अवयवचक है जिस क्रियामें जैसे  
होय तस, आर नाघणसे शोभित है अधर जिस क्रियामें जैसे होय तैसे जाती है ।

अब विहृतका लक्षण कहते हैं “प्रियसन्निधौ” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ  
यह है कि प्रियके समीपमें भी इच्छाकी अपूर्ति अर्थात् विषयासंस्पर्श सो विहृत  
है । अभिलाष फलसम्पादकसामग्रीकालमें आपके प्रयत्नसे मिलाहुआ जो उस  
सामग्रीका विघटन सो विहृत है, यह फलितार्थ जानना । इसके विभाव-व्याज,  
लज्जा इत्यादि । अनुभाव-अन्यथाचेष्टा, अन्यथा व्यवहारादिक हैं । व्याजसे  
विहृतका उदाहरण “अभिलषति” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है

**लज्जातो यथा-**

आनन्दभाजो यदुनन्दनस्य कराऽवरोधं न करेण कुर्याः ।  
सखीं लपन्तीमिति सञ्चान चकोरनेत्रा चुलकोदकेन॥ १८॥  
यूनोरन्योन्यं मुदितानां पञ्चेन्द्रियाणां सम्बन्धाभावोऽभी-  
ष्टाप्रातिर्वा विप्रलम्भः । न च मानात्मके विप्रलम्भेऽव्या-  
तिरिति वाच्यम्, मुदितपञ्चेन्द्रियसम्बन्धाभावरूपस्य  
विशिष्टाभावस्य तत्राऽपि सत्त्वात् । तदानीं यूनोरिन्द्रि-  
याणां मुदितत्वाभावात् । ननु या प्रियमभिसरति सा  
विप्रयुक्ता भवेदिति चेत् । सत्यम्, सा विप्रयुक्तैव । अचि-  
रदर्शनप्रत्याशाऽनुवृत्तप्रमोदेन विरहधर्मस्याश्रुपातादेर-  
सम्भव इति ।

कि चन्द्रचूड जो शिव सो भवानीके कपोलस्थलमें तिलक अर्थात् पत्ररचनाको  
करनेकी इच्छा करत सन्ते उदयको प्राप्त जो अन्तःकरणका कोप उससे युक्त  
वार्वतीने शेषके भयके छलसे अंगको कृपातीहुईने चश्चल जो वस्त्र उनकी पवनसे  
क्रीडादीप जो हैं ते ग्नियुक्त करदिये अर्थात् क्रीडादीपोंको बुझादिया ।

अब लज्जासे विहतका उदाहरण “आनन्दभाजः” इत्यादिक्षोक्से कहतेहैं । क्षोकार्थ  
यह है कि चकोरनेत्रा अर्थात् कोपसे रक्त हैं नेत्र जिसके ऐसी नायिका जो है सो  
सखीको चुलकोदक अर्थात् मुखसम्मार्जनार्थ प्राप्त जलसे मारती भई, कैसी है वह  
सखी सो कहते हैं कि आनन्दयुक्त अर्थात् उत्कण्ठित जो कृष्ण उसके हाथका  
अवरोध अर्थात् कंचुकीको मोचनमें प्रवृत्त जो पाणि उसका प्रतिबन्ध आपके  
हाथसे पत करो इस प्रकारसे शिक्षा करती हुई ऐसी । इस प्रकार सपरिकर  
सम्भोग शृंगारका निरूपण करिकै अब विप्रलम्भक लक्षण कहते हैं “यूनोर-  
न्योन्यम्” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि युवति और युवा इनकी  
जो परस्पर मुदित पांच इन्द्रियां उनका जो परस्पर सम्बन्धाभाव सो विप्रलम्भ है ।  
यहां मुदितपद न दें तो करुणरसमें अतिव्याप्ति होजायगी, क्योंकि वहां भी  
युवति युवा दोनोंका परस्पर पञ्चेन्द्रियसम्बन्धाभाव है । इस हेतु मुदितपद दिया तो  
अतिव्याप्ति नहीं हुई क्योंकि करुणस्थलमें इन्द्रियोंको मोद नहीं है । इन्द्रियोंकी  
जो मुदितता सो ही विप्रलम्भ है ऐसा कहें तो संयोगशृंगारमें अतिव्याप्ति हो-

स च विप्रलम्भः पञ्चधा, देशान्तरगमनाद्गुरुनिदेशादभि-  
लाषादीष्यायाः शापाच्चेति । समयादैवाद्रिङ्गवरादित्यादयो  
इप्युन्नेयाः । देशान्तरगमनाद्यथा-

जायगी, वहां भी इन्द्रियोंको मुदितता है इस हेतु संबन्धाभाव कहा तो अतिव्याप्ति नहीं हुई क्योंकि वहां संबन्धका अभाव नहीं है । यहां पञ्च पद दिया सो रतिका परिपोषाभिमायक है सो जानना । फलित यह है कि वियोगकालावच्छिन्ना जो परिपूर्णा रति सो विप्रलंभ है सो जानना । जहां रतिका परिपोष नहीं होता है वहां शृंगारका सामान्य लक्षण ही नहीं रहेगा तो विप्रलंभ भी नहीं रहेगा सो जानना । यहां यह शंका होती है कि दोषदुष्टिन्द्रियसंबन्धकालमें भी परस्पर साक्षात्कारका अभाव होनेसे विप्रलंभका योग सर्वमतसिद्ध है परन्तु पञ्चेन्द्रियसंबन्धाभाव वहां नहीं है, वहां विप्रलंभकी सिद्धिके अर्थ कलोपहितत्व विशेषणसंबंधमें अवश्य देना होगा, जब फलोपहित पञ्चेन्द्रियसंबंध यहां नहीं है तो उसका अभाव है तो विप्रलंभशृंगार बनजायगा तो ऐसा लक्षण विप्रलंभका करना इसमें गौरव होता है, इसकी अपेक्षा स्वविषयसिद्धचयनुपहित जो परिपूर्ण रति सो ही विप्रलंभ कहना चाहिये । इसका समाधान यह है कि इस ही अभिमायसे दूसरा लक्षण कहते हैं कि अभीष्ट जो अर्थ अर्थात् इच्छाविषय जो अर्थ उसकी प्राप्ति नहीं होय और रति पूर्ण रहे उसको विप्रलंभ कहना । अब प्रथम लक्षणमें जो मुदित पद न दें तो मानस्त्रुप विप्रलंभमें अव्याप्ति होगी क्योंकि वहां पञ्चेन्द्रियसंबंधाभाव नहीं है । इससे मुदित पद दिया तो प्रकृतमें पञ्चेन्द्रियसंबंध है तो भी मुदितत्व-विशिष्टपञ्चेन्द्रियसंबंध नहीं है क्योंकि मानकालमें युवति युवाओंकी इन्द्रिय मुदित नहीं रहती हैं इस हेतु मुदितत्वविशिष्टपञ्चेन्द्रियसंबंधाभाव नहीं रहा तो अव्याप्ति नहीं हुई । अब यहां यह शंका हुई कि जो नायिका प्रियके प्रति अभिसरण करती है अर्थात् जाती है वह विप्रलंभयुक्ता नहीं कहावैगी, क्योंकि विप्रलंभका कार्य अश्रुपातादि वहां नहीं है । इसका समाधान यह है कि वह तो विप्रलंभयुक्त ही है परन्तु शीघ्र जो प्रियदर्शनप्रत्याशा उसके संबंधसे जो प्रमोद उससे विरहका कार्य अश्रुपातादि वहां नहीं हो सकता है सो जानना ।

विप्रलम्भशृंगारमें यद्यपि विशेष उपलम्भ नहीं है तो भी इसका विभाग करते हैं “ स च ” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि वह विप्रलम्भशृंगार पांच प्रकारका है । एक तो देशान्तरगमनसे, दूसरा गुरुजनाज्ञासे, तीसरा अभिलाषसे, चौथा-ईष्यासे, पांचवां शांपसे । विशेषाऽनुपलम्भ है तो भी कारण वैचित्रयमात्रसे भिन्न मेद्

प्रस्थानाय कृतोद्यमे प्रियतमे दोःकंकणेन च्युतं  
 धैर्येण स्वलितं मदेन गलितं नेत्राम्भसा निःसृतम् ।  
 जीवेनाऽपि यियासुना शिवशिव प्रारम्भ वामभ्रुवः  
 कम्पान्दोलितकिङ्कणीकलरवव्याजेन वैष्णवस्मृतिः ॥ १९ ॥  
 यथा वा तातचरणानाम्—  
 वीणामंके कथमपि सखीप्रार्थनाभिर्निधाय  
 स्वैरंस्वैरं सरसिजदृशा गातुमारब्धमेव ।  
 तन्त्रीबुद्धया किमपि विरहक्षीणदीनाङ्गवल्ली—  
 मेनामेषा स्पृशति बहुशो मूर्छना चित्रमेतत् ॥ २० ॥

### गुरुनिदेशाद्यथा—

होतसन्तें और भी बहुत भेद हो सकते हैं। समयहेतुक विप्रलम्भ, दैवहेतुक विप्रलम्भ, विद्वारादिहेतुक विप्रलम्भ, ये भी विप्रलम्भके भेद जानने चाहिये। देशान्तरगमन आपही विप्रलम्भका हेतु नहीं होता है किन्तु उसका ज्ञान विप्रलम्भका हेतु होता है, ऐसा हुआ तो देशान्तरगमन नहीं भी होय और ज्ञान होजाय तो तद्देतुक विप्रलम्भ भी हो सकता है। इसका उदाहरण “प्रस्थानाय” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं, श्लोकार्थ यह है कि नायक जो है सो प्रस्थान करनेके अर्थ आरब्धोद्योग होत-सन्ते नायिकाका हस्तकंकण गिरपडा (यद्यपि कंकण करभूषणका नाम है तो ‘दोः’ पद निरर्थक है तथापि जहां पृथक् विशेषणवाचक पद रहे तहाँ विशिष्टवाचक पद विशेष्यमात्रको कहते हैं। यह काव्यवेत्ताओंका संकेत है इस हेतु यहां कंकणपद भूषणमात्रपर है ‘दोः’ कंकणका प्रयोग करनेसे हस्तकंकणका ज्ञान होगा सो जानना और धैर्यकी शीघ्र निवृत्ति होनेसे वह पड़गया और मद भी नष्ट होगया। और नेत्रसे जल बाहर होगया। रहनेके स्थानमें उपद्रवशंका कारिकै जानेकी इच्छा करते हुए जीवने भी कम्पसे आन्दोलित अर्थात् चलित जो किंकिणी अर्थात् काश्ची उसकी जो मधुरध्वनि उसके छलसे वैष्ण अर्थात् वेणुमुत्र पृथुराजाका स्मरण कष्टप्राप्त होकरिकै आरम्भ किया अर्थात् समृहके दाक्षिण्यसे जानेके निमित्त आवश्यकता भी हुई तो भी पुनः आगमनेच्छासे ऐसे मंगलका आचरण किया। वैष्णका स्मरण प्रस्थानसमयमें मंगलरूप है यह शास्त्रमें कहा है।

स्वरूपसे देशान्तरगमनहेतुक विप्रलम्भका भी उदाहरण दिखाते हैं “वीणामंके” इत्यादि श्लोकसे। श्लोकार्थ यह है कि कमलतुल्य हैं नेत्र जिसके ऐसी नायिकाने अर्थात् जलसे भरे हैं नेत्र जिसके ऐसी नायिकाने प्रिय सखीकी प्रार्थनासे कोई प्रकार अर्थात् बलात्कारसे वीणाको गोदमें रख कर यथेष्ट गानके निमित्त प्रारम्भ किया

भास्वांशूततरुर्गुरुर्मनसिजः कौप्येष भृंगस्तमो  
 मन्दो गन्धवहः सितो मलयजो दोषाकरो माधवः ।  
 अंगारो नवपल्लवः परभृतो विज्ञो गुरोराज्ञया  
 निर्यान्तोऽसि विचारिताः कथममी कूरास्त्वया न ग्रहाः २१ ॥

अभिलाषाद्यथा—

आगाराभिमुखं मुखं रचयातोर्वक्रीकृतश्रीवयो—  
 व्यस्तं चोलमजानतोः कचिदपि व्याजात्पुनस्तिष्ठतोः ।  
 मार्गं विस्मरतोः कचित्कचिदपि त्यक्ताक्षरं जलपतोः  
 साचि प्रेक्षितमावयोर्यदभवद्यस्तदाशास्महे ॥ २२ ॥

ही यह तो ठीक ही है परन्तु मृछना अर्थात् मूर्छा जो है सो अत्यन्त विरहसे क्षयको प्राप्त इस ही हेतु दीन, ऐसी है अंगलता जिसकी ऐसी इसहीको वीणाके भ्रमसे बहुत बार विप्रलम्भके उद्दीपनसे स्पर्श करती है, यह आश्र्य है। अभिप्राय यह है कि शब्दका धर्म जो मृछना उसकी अभिव्यक्ति वीणामेंही उचित है, शरीरमें उचितनहीं सो जानना। अब गुरुनिदेशहेतुक विप्रलम्भका उदाहरण कहतेहैं “भास्वान्” इत्यादि श्लोकसे। श्लोकार्थ यह है कि नायिकाकी उक्ति है कि हे नाथ ! गुरुओंकी आज्ञासे तुम गये हो परन्तु ये जो दुष्ट ग्रह अर्थात् दुष्ट ग्रहका कार्य करनेवाले उनका विचार तुमने क्यों नहीं किया ? अर्थात् ये कौन अनर्थका उत्पादन करेंगे इसका प्रश्न ज्योतिषसे क्यों नहीं किया ? ये ग्रह कौन ? सो कहतेहैं कि चूततरु अर्थात् आम्र जो है सो भास्वान् है अर्थात् नवपल्लवोंसे प्रकाशित है और सूर्यरूप है। और कामदेव जो है सो गुरु है अर्थात् महान् है, और बृहस्पतिरूप है। और अनिर्वचनीय है प्रभाव जिसका ऐसा जो यह भृंग सो अन्धताका सम्पादक होनेसे अन्धकार है और राहुरूप है। और गन्धका वहन करनेवाला जो पवन सो मन्द है अर्थात् कामोदीपक है, और शनिरूप है। और चन्द्रन् जो है सो सित अर्थात् जातिसे शुद्ध है, और शुक्ररूप है। और वसन्त जो है सो दोष अर्थात् परपीडनादि दोषोंका स्थान है, और चन्द्ररूप है। और नवीन जो पल्लव सो अंगाररूप है अर्थात् दाह करनेवाला है और मंगलरूप है। और परभृत अर्थात् कोकिल जो है सो विज्ञ अर्थात् विशेषाभिज्ञ है (यह कहनेका अभिप्राय यह है कि स्वरूपसे कुहू यह जो इसका शब्द है सो विरहिनसन्तापकारक जो चन्द्रमा उसका अवसान-पर्यवसाधी है इस हेतु अभिलषित अमावास्यादि रूप अर्थके प्रतिपादनमुखसे इष्ट-चिन्तवनका आपमें प्रख्यापन करनेसे विज्ञ है) और बुधरूप है। अब अभिलाष हेतुक विप्रलंभका उदाहरण “आगारम्” इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि कहीं ही अर्थात् देवग्रहादिमेंही प्रवृत्तहुआ है नेत्रराग जिनको और संमर्द्दसे

ईर्ष्यातो यथा—

प्राणेशस्य प्रभवति मनः प्रेम हेमप्रसून—  
 अतेतश्चूतं द्वगपि कमलं जीवनं बन्धुजीवम् ।  
 आशासूत्रे ग्रथितमखिलं वेघसा तस्य भंगे  
 स्यादेतेषामपि निपतनं चण्डमानं विमुच्च ॥ २३ ॥  
 शापाद्यथा— अन्यत्र यदि निर्गन्तुमिच्छा निर्गच्छ दूरतः ।  
 प्रियाविरहतापेन शापदग्धो भविष्यसि ॥ २४ ॥

शीघ्रही विक्षिष्ट, और द्वारभेदसे बाहर निकले और परस्परमार्गवलोकनमें आसक्त ऐसे नायक नायिकाओंका मनोरथ वर्णन यह है कि अधिम देशमें गमनाशंकासे आगे जाते भी हैं तो भी बीचमें देवतायतनमें ही उत्पन्न जो सम्भावना उससे देवगृहके अभिमुख मुखको करतेहुए, और इस ही हेतु वक्र की है श्रीवा जिनने ऐसे, और इसही हेतु गिरताहुआ जो अंगावरण वस्त्र उसको नहीं जानते हुए ऐसे, और अस्थानमें भी छलसे स्थित ऐसे और जानेके मार्गका विस्मरण करते हुए ऐसे, और जिस किसी विषयमें लुप्त है वर्ण जिसमें जैसे होय तैसे बोलते हुए ऐसे जो हम और तुम उनका जो तिर्यकप्रेक्षण अर्थात् मार्गमें दैवसंघटित पेसा जो प्रेमभरपूरित चक्षुसे निरन्तर परस्पर झाँकना होता भया, उसको फिर भी हम इच्छा करतेहैं॥ अब ईर्ष्यादेतुक विप्रलम्भका उदाहरण “प्राणेशस्य” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि दूरीकी उक्ति है कि हे चण्ड ! अर्थात् अत्यन्तकोपयुक्ते ! मान अर्थात् आग्रहको छोड क्योंकि ब्रह्माने इन सबको आशारूप सूत्रमें गूढ़े हैं अर्थात् आशासे इनकी सत्ता है, सो ही कहते हैं कि आशासूत्रका भंग होनेसे इन सबका निपात होजायगा । ये सब कौन सो कहते हैं कि प्राणेश अर्थात् अत्यन्त प्रेमालम्बन प्रियका जो मनःप्रेम अर्थात् अन्तःकरणका स्नेह सो अत्यन्त रक्षा करनेके योग्य होनेसे स्वर्णपुष्परूप है, और अन्तःकरण जो है सो प्रियागन्धि जो अनेकविध मनोरथ तद्युक्त होनेसे आम्रपुष्परूप है । और नेत्र जो है सो भी जलपूरनिमय होनेसे कमलरूप है, और जीवन जो है सो अस्थिरप्रसादता होनेसे बन्धुजीव अर्थात् मध्याद्रपुष्परूप है ॥

अब शापहेतुक विप्रलम्भका उदाहरण “अन्यत्र” इत्यादिश्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि दूरीकी नायकके प्रति उक्ति है कि निर्गमन अर्थात् जीवनके निमित्त जो बाहर जानेकी इच्छा है तो नायिकाको विना देखे ही उलट जावो, और यदि प्रियाके प्रति अभिसरण करोगे तो प्रियाका जो विरह अर्थात् तुमारा विश्लेष उससे उत्पन्न जो ज्वाला सो हमारे प्रतापनमात्रमें भय भी है तो भी तुम्हारे मुखवालोकनरूप इन्धनसे प्रवृद्ध होकरिके तुम्हारा दाह करनेमें समर्थ होजायगी ।

समयाद्यथा— विश्लेषजीवनव्रीढापीडाविधुरमानसा ।  
तस्थौ प्रातः प्रियं प्रेक्ष्य वक्ती वक्तीकृतानना ॥ २६ ॥  
दैवाद्यथा— जीवने सति विश्लेषो विश्लेषे सति जीवनम् ।  
द्वयोरप्यनयोर्यूनामहमेव निर्दर्शनम् ॥ २७ ॥

विड्वाद्यथा— केलीगृहे वा मणिमन्दिरे वा शशामलंकानगरे हुताशः ।  
इतस्ततः प्रस्थितयोर्न यूनोर्वियोगजन्मा विरराम वह्निः ॥ २७ ॥  
इति श्रीभानु० रसतरंगिण्यां शृङ्गाररसनिरूपणं नाम पष्टस्तरंगः ॥ ६ ॥

तुम शापकी तरह भस्मसात् हो जाओगे अर्थात् प्रियाके सम्भोगमें तुम आपके आत्मामें दग्धत्वकी सम्भावना करोगे, जिस प्रकार महापुरुषके शापसे भस्मी-भूत आत्माकी सम्भावना करते हैं उसही प्रकार हम भी प्रियाकी निकटतामात्रसे शाप है मूल जिसमें ऐसा जो तुम्हारा विरहानल उससे भस्मीभूत तुम्हारे आत्माकी संभावना में करती हूँ । यह कहनेसे शापहेतुक विप्रलंभका उदाहरण यह नहीं बन सकताहै, यह कहनेवाले परास्त होगये । वे इस श्लोककी ऐसी व्याख्या करते हैं कि यह जो श्लोक है सो गमनमें प्रतिबन्धकताको सूचन करताहै, यह वियोग शापमूलक नहीं है किन्तु मेवदूर्तं काव्यमें ‘त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायामात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् । अस्त्रैस्तावन्मुद्गुपचितैर्दृष्टिराङ्गुप्यते मे क्ररस्तस्मिन्नापि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ।’ इस श्लोकमें शाप-हेतुक विप्रलंभ है सो जानना ॥ अब समयहेतुक विप्रलंभका उदाहरण “विश्लेष” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं, श्लोकार्थ यह है कि विश्लेष होनेपर जीवनसंभूत जो व्रीडा उससे उत्पन्न जो दुःख उससे अधीर है मन जिसका ऐसी जो नायिका सो प्रातःकालमें प्रियको देखकरिके चक्रवाकीकी तरह अवक वक्र किया है भुख जिसने ऐसी स्थित होती भई, प्रातःकालमें प्रियवियोग सर्वत्र प्रसिद्ध है ।

अब दैवहेतुक विप्रलंभका उदाहरण “जीवने सति” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं, श्लोकार्थ यह है कि सीताके वियोगमें रामचन्द्रकी उक्ति है कि जीवन होत सन्ते जो विश्लेष और विश्लेष होत सन्ते जो जीवन भी इन दोनोंका युवा पुरुषोंमें ही उदाहरण हूँ अर्थात् और नहीं है ॥ अब उपद्रवहेतुक विप्रलंभका उदाहरण “केलीगृहे” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि लंकानगरमें क्रीडा-गृहमें अथवा गृहैकदेशमें मणिमन्दिरमें वा गृहके संपूर्ण भागमें प्रवृद्ध किया जो अग्नि सो कितनेही कालमें शान्त होगया परन्तु यथानिर्गम भागे हुए जो युवति युवा उनका जो विरहोदीपित अग्नि सो शान्त नहीं हुआ, अभिप्राय यह है कि भयके अतिपातसे बहुत कालपर्यन्त दोनोंका संयोग नहीं हुआ । यहाँ उपद्रवहेतुक विप्रलंभ है ॥

इति श्रीरसतरङ्गिणीमावाटीकायां शृङ्गाररसनिरूपणं नाम पष्टस्तरङ्गः ॥ ६ ॥

## सप्तमस्तरंगः ७.

हासस्य परिपोषो हास्यः । वर्णोऽस्य शुद्धो दैवतं प्रमथः ।  
 स च द्रिविधः—स्वनिष्ठः परनिष्ठश्चेति । तावप्युत्तममध्य-  
 माधमभेदात्रिधेति पञ्चिधः । स्वनिष्ठोऽपि पञ्चिधः । परनि-  
 ष्ठोऽपि पञ्चिध इति द्वादशविधो हास्यः । तथाहि उत्त-  
 मानां स्वनिष्ठे परनिष्ठे च स्मितहसिते । मध्यमानां स्व-  
 निष्ठे परनिष्ठे च विहसितोपहसिते । अधमानां स्वनिष्ठे  
 परनिष्ठे चापहसितातिहसिते ।

अब हास्य रसका लक्षण और वर्ण और देवता “हासस्य” इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि हास्यरूप स्थायिभावका जो परिपोष अर्थात् पुष्टा सो हास्य है । इसका वर्ण शुद्ध अर्थात् शुक्ल है और देवता प्रमथ है । वह हास्य रस दो प्रकारका है । एक स्वनिष्ठ, दूसरा परनिष्ठ । तहाँ हास्यरसका जो आश्रय उससे जो अन्य सो जहाँ आलम्बन विभाव होय तहाँ हास्य स्वनिष्ठ कहाता है । जहाँ हास्य रसका आश्रय आलम्बन विभाव होय तहाँ हास्य परनिष्ठ कहाता है । यह जो दोनों प्रकारके हास्य हैं सो उत्तम, मध्यम, अधम इन भेदोंसे तीन तोन प्रकारके हैं इस हेतु छः प्रकारके हुये । अभिप्राय यह है कि एक उत्तमका हास्य, मध्यमका हास्य, अधमका हास्य इस तरह हास्य तीन प्रकारका है । उत्तमका जो हास्य सो स्वनिष्ठ परनिष्ठ दो प्रकारका है । और मध्यमका जो हास्य है सो भी स्वनिष्ठ परनिष्ठ दो प्रकारका है । और अधमका जो हास्य है सो भी स्वनिष्ठ परनिष्ठ दो प्रकारका है । इस तरह छै प्रकार हुए । तहाँ उत्तमका जो स्वनिष्ठ हास सो दो प्रकारका है स्मित और हसित । इन भेदोंसे इसही तरह परनिष्ठ भी स्मितरूप और हसितरूप है इससे उत्तमका हास चार प्रकारका हुआ । इसही तरह मध्यमका जो स्वनिष्ठ और परनिष्ठ हास्य सो विहसित उपहसित इन भेदोंसे दो दो प्रकारका है । तो मध्यमका हास्य भी चार प्रकारका होगया । इसही प्रकार अधमका भी स्वनिष्ठ, परनिष्ठ हास्य अपहसित, अतिहसित इन भेदोंसे दो दो प्रकारका है । तो अधमका हास्य भी चार प्रकारक होगया, तो स्वनिष्ठ हास्य छै प्रकारका परनिष्ठ हास्य छै प्रकारका इस तरह हास्यके बारह भेद होगये ।

उत्तमानामीषद्विकसितकपोलमव्यक्तदशनमपाङ्गमुष्टवीक्षणं  
स्मितम् । उत्फुल्लकपोलं किञ्चिल्लक्षितदशनं हसितम् ।  
मध्यमानां समयोचितमुत्तमरचनमाकुञ्चितमुखमाविर्भूतव-  
दनरागं विहसितम् । उत्फुल्लनासापुटं कुटिलवीक्षितं कुञ्चि-  
तग्रीवं स्फुटस्वनमुपहसितम् । अधमानामुद्धतमुव्यदशुकम्पित-  
मौलिस्फुटरस्वनमपहसितम् । अत्युद्धतं वहलाशुस्फुटत-  
मस्वनमाश्लिष्टपार्श्वजनमारब्धकरतालमतिहसितम् ।

स्वनिष्ठं स्मितं यथा—

अब उत्तमका जो स्वनिष्ठ और परनिष्ठ हास्य है सो स्मित हसितरूप कहाताहै उनके क्रमसे लक्षण “उत्तमानाम्” इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि किञ्चित् विकसित कपोल होय जिस हास्यमें और नहीं प्रकट हैं दशन जिसमें और नेत्रप्रान्तसे सुन्दर वीक्षण होय जिसमें ऐसा जो उत्तमका स्वनिष्ठ परनिष्ठ हास्य उसको स्मित कहते हैं । और जिस हास्यमें फूले हुए कपोल होवैं और दन्त किञ्चित् लक्षित होजायं ऐसा जो उत्तमका स्वनिष्ठ परनिष्ठ हास्य उसको हसित कहते हैं । इसही प्रकार मध्यमका जो स्वनिष्ठ परनिष्ठ हास्य सो भी विहसितोपहसि- तरूप कहा है, उनका भी लक्षण क्रमसे “मध्यमानाम्” इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि समयसे उचित और उत्तम शब्द होय जिसमें और संकुचित मुख होय और प्रकट वदनराग होय जिसमें ऐसा जो मध्यमका स्वनिष्ठ पर- निष्ठ हास्य सो विहसित है । और इसही प्रकार उत्फुल्ल हैं नासापुट जिसमें और कुटिल वीक्षित है जिसमें और संकुचित है ग्रीवा जिसमें, स्फुटहै शब्द जिसमें ऐसा जो मध्यमका स्वनिष्ठ परनिष्ठ हास्य वह उपहसित है । अब अधमका जो स्वनिष्ठ परनिष्ठ हास्य अपहसित अतिहसितरूप कहाहै उनका लक्षण “अधमानाम्” इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि जिस हास्यमें उद्धत और बाहर निकलते हुए अश्रु होवैं और कम्पितमस्तक होय, और अतिस्फुट शब्द होय ऐसा जो अधमका स्वनिष्ठ परनिष्ठ हास्य सो अपहसित है । इस ही प्रकार जिस हास्यमें और अत्यन्त उद्धत बहुत अश्रु होंय और अत्यन्त स्फुट शब्द होय और आश्लिष्ट समीप जन जिसमें, और आरब्ध है करताल जिसमें ऐसा जो अवमका स्वनिष्ठ परनिष्ठ हास्य वह अतिहसित है ॥

लेखनीमितइतो विलोक्यन्कुञ्जकुञ्ज न जगाम पञ्चभूः ।  
तां पुनः श्रवणसीम्नि योजितां प्राप्य सन्नतमुखः स्मितं दधौ ॥

स्वनिष्ठं हसितं यथा-

व्योमांकुरं व्योमगतं रदाग्रमुग्रद्युतिं स्वीयमुदीक्ष्य विष्णोः ।  
यदा स हास्यं किमु तत्पयोधावद्याऽपि फेनस्तबकायमानम् ॥  
परनिष्ठं स्मितं हसितं यथा-

हरवृषभमुखे सखेलमायोजयति सुवर्णसवर्णकान्तिपर्णम् ।  
दशि भुजगपतेः शिशुः षडास्यः कलयति कज्जलमन्तिके  
भवान्याः ॥ ३ ॥

विहसितं परनिष्ठं यथा-

अब स्वनिष्ठ स्मितका उदाहरण “लेखनीम्” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि ब्रह्मा जो है सो लेखनीको इधर उधर देखता हुआ कहाँ कहाँ नहीं गया अर्थात् क्या क्या नहीं देखता भया ? और पीछे कानके निकटमें लगाई उस लेखनीको प्राप्त होकरिके नम्र है मुख जिसका ऐसा होतसन्ते स्मितको धारण करताहुआ । यहाँ वह लेखनी ब्रह्मनिष्ठ हास्यका आलम्बन है । यह लेखनी हास्याश्रय नहीं है इससे यहाँ स्वनिष्ठ स्मित बनगया । अब स्वनिष्ठ हसितका उदाहरण “व्योमांकुरम्” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि आपका आकाशमें प्राप्त अर्थात् पृथीवीके उद्धारसमयमें पृथिवीका भेदनकरिके आकाशमें देखा ऐसा जो रदाग्र अर्थात् दन्तका अग्रभाग उसको व्योमांकुरकी सम्भावना करिके जो विष्णुको उग्रद्युति हास्य हुआ सो समुद्रमें आज भी फेनस्तबकायमान अर्थात् पुञ्जीभूत फेनतासे दृश्यमान है क्या ? ॥ अब एक उक्तिसे ही परनिष्ठ जो स्मित और हसित उनका उदाहरण कहते हैं “हरवृषभ” इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि छह हैं मुख जिनके ऐसे जो बालरूप स्वामिकार्तिक सो नन्दीके मुखमें सुवर्णकी समान कान्तियुक्त जो पत्र उसको भवानीके समीप कौतुकसहित जैसे होय तैसे प्राप्त करते हैं, और शेषकी दृष्टिमें कौतुकसहित कज्जल लगते हैं । यहाँ पत्रिकाव्यापारसे हसते हुए स्वामिकार्तिकको देखकरिके पार्वतीको स्मित हुआ और अञ्जनव्यापारसे हसते हुए स्वामिकार्तिकको देखकरिके पार्वतीको हास्यका आविर्भाव हुआ, इससे उदाहरण संगत होगया ।

अब परनिष्ठ उदाहरण कहनेसे स्वनिष्ठ भी कथित होजाता है, जहाँ आश्रय और आलम्बन एक रहे तहाँ परनिष्ठ होता है इस अभिप्रायसे परनिष्ठ विहसि-

निशासु तैलस्य धिया गृहीतैर्मसीजलैर्लिप्तमुखारविन्दम् ।  
गोपं प्रभाते स्खलदशुनीरमधीरनादं जहसुस्तरुण्यः ॥ ४ ॥

उपहसितं परनिष्टुं यथा-

यो-निरोधो मयारब्ध इति पद्यं पठन्बुधः ।

शशदुत्फुल्लनास्त्रेन तटस्थेनोपहस्यते ॥ ५ ॥

परनिष्टुमपहसितं यथा-

रतोत्सवे वल्लभयज्ञसूत्रं कण्ठावलग्नं परिमोचयन्तीम् ।

द्विजाङ्गनां दीर्घतरं श्वसन्तीं तारस्वनं वारवधूर्जहास ॥ ६ ॥

परनिष्टुमतिहसितं यथा-

चोरः कामरिपोर्गृहं निशि गतः शूलं कपालं हर-

न्वीजं धूर्तफलस्य तण्डुलधिया नीत्वा पुनर्भुक्तवान् ।

व्यावलग्नप्रचलन्स्खलन्परिपत्नमुद्यन्विधूर्णन्हस-

न्मद्वाहृध्वनिमुक्तमौलिकुसुमं स्वर्वेश्यया हस्यते ॥ ७ ॥

तका उदाहरण “निशासु” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि तस्मीं जे हैं ते रात्रिमें तैलकी बुद्धिसे लिया जो मसीजल उससे लिप्त है मुखारविन्द जिसका ऐसे गोपको देखकरिके प्रातःकाल पडता है वाष्पजल जिस कियामें जैसे होय तैसे और प्रवृक्ष है कण्ठध्वनि जिस कियामें जैसे होय तैसे हँसती भई ॥

अब परनिष्टुपहसितका उदाहरण “योनिरोधः” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि मैंने जो निरोध अर्थात् आग्रह आरब्ध किया इस तात्पर्यसे ‘योनिरोधो मयारब्ध’ इस वाक्यको बोलता हुआ जो पण्डित सो ‘योनिका रोध’ ऐसे जुगुप्सित अर्थका प्रतिपादक उस वाक्यको मानकरिके निरन्तर श्वास-भरसे फूली हुई है नासिका जिसकी ऐसे तटस्थ पुरुषसे हास्ययुक्त किया जाता है। अब परनिष्टु अपहसितका उदाहरण “रतोत्सवे” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि क्रीडाके समयमें कण्ठमें लगा हुआ जो प्रियका यज्ञोपवीत उसको छुडाती हुई और दीर्घतर श्वास लेती अर्थात् हँसती हुई ऐसी ब्राह्मणकी स्त्रीको देखकरिके वेश्या जो है सो बड़ा भारी है शब्द जिस कियामें जैसे होय तैसे हँसती भई ॥ अब परनिष्टु अतिहसितका उदाहरण “चोरः कामरिपोः”

शोकस्य परिपोषः करुणः । आशाविच्छेदे सति सर्वेन्द्रियकुमो वा । न च विप्रलम्भेऽतिव्याप्तिः । तत्रेषाशायाः सत्त्वात्, तद्विच्छेदे तु स विप्रलम्भः करुण एव । शोको दुःखम् । वर्णोऽस्य कपोतचित्रितः । दैवतं वरुणः । स च स्वनिष्ठः परनिष्ठश्च । स्वशापबन्धनकुशानिष्ठैर्विभावैः स्वनिष्ठः । परेष्टनाशशापबन्धनकुशादीनां दर्शनस्मरणैर्विभावैः परनिष्ठः । स्वनिष्ठो यथा-

इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि रात्रिमें चोर जो है सो महादेवके घरमें गया वहां त्रिशूल और कपाल इनको हरण करता हुआ, चावलकी बुद्धिसे धतूरेके दानोंको लेकरिके भोजन करता भया फिर वलगन करता हुआ और बहुत चलता हुआ और छोकर खाताहुआ और पड़ता हुआ और मोहको प्राप्त होता हुआ और घूमता हुआ और हँसता हुआ ऐसा वह चोर बड़ी भारी है धनि जसमें जैसे होय तैसे और गिरा है मस्तककापुष्प जिस कियामें जैसे होय तैसे अप्सराओंसे हँसा जाताहै अर्थात् अप्सराएं उसकी हँसी करती हैं ।

अब करुणरसका लक्षण कहते हैं “शोकस्य” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि शोकरूप स्थायिभावकी जो परिपुष्टा अर्थात् भग्नावरणचित्संबन्ध सो करुण रस है । तहां विनिगमनाविरहसे शोकावच्छिन्न जो भग्नावरण चित् उसको भी करुणरसत्व होनेपर शोकका असाधारण कार्य जो सर्वेन्द्रियकुम अर्थात् ग्लानि तदवच्छिन्न जो चित् सो भी करुण रस होगा तो सर्वेन्द्रियकुममें भी करुणरसावच्छेदकता विनिगमकाभावसे प्राप्त होगी सो अनिवार्य है । वह कुम अन्तःकरणवृत्तिसे भिन्न भी है तो भी करुणरसरूप है, इस अभिप्रायसे दूसरा लक्षण कहते हैं कि आशाका विच्छेद होनेपर जो सर्वेन्द्रियकुम अर्थात् ग्लानिसे करुण रस है । परन्तु इस पक्षमें क्लेश बहुत है इस हेतु द्वितीय पक्षमें जो वापद्ययोग है सो अरुचिसूचक है । द्वितीय लक्षणमें ‘आशाविच्छेदे’ सति यह न कहें तो विप्रलंभशृंगारमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वहां भी इन्द्रियकुम है इस हेतु आशाविच्छेद होत सन्तें यह पद दिया तब विप्रलंभमें अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि विप्रलंभमें आशाका विच्छेद नहीं होता है किन्तु इष्टकी आशा रहती ही है । जो विप्रलंभमें इष्टकी आशा निवृत्त होजाय तो वह विप्रलंभ करुण ही है सो जानना ।

तव नाथ शरः शरासनं तव देहेन सहैव भस्मसात् ।  
अहमस्मिततः प्रतीयते तव नास्मीति किमुच्यतामितः ॥ ८ ॥

परनिष्ठो यथा-

अनुवन्मनुयान्तं बाष्पवारि त्यजन्तं  
मृदितकमलदामक्षाममालोच्य रामम् ।

अब प्रथम लक्षणमें जो शोक पद कहा उसका अर्थ कहते हैं कि शोक दुःखको कहना, इस रसका वर्ण कपोतवत् चित्रित है, और देवता वरुण है । यह करुण छःपकारका है । एक स्वनिष्ठ दूसरा परनिष्ठ । तहाँ आपका शाप आपका बन्धन और आपका क्लेश आपका अनिष्ट एतत्स्वरूप विभावोंसे जो करुण रस होय वह स्वनिष्ठ है, इस पक्षमें बन्धनादि जो उपाधि उनको शोकका विभावत्व प्राप्त होताहै इस हेतु आपके अधिकरणमें रहनेवाला आलम्बन विभाव होय जिसका ऐसा जो करुण रस सो स्वनिष्ठ है और आपके अधिकरणमें न रहनेवाला ऐसा आलंबन विभाव होय जिसका वह करुण रस परनिष्ठ है सो जानना । इसही अभिप्रायसे कहते हैं कि परका इष्टनाश और शाप बन्धन क्लेशादिके दर्शनस्परणरूप विभावसे जो करुण रस वह परनिष्ठ है । और शापबन्धनादिका आश्रयभूत जो प्राणी सो करुण रसके विभाव हैं, यह जो सिद्धान्त पक्ष उसमें तो स्वाश्रय है आलंबन विभाव जिसका ऐसा जो करुण रस वह स्वनिष्ठ है और स्वाश्रयसे अन्य है आलंबन जिसका ऐसा जो करुण रस सो परनिष्ठ है सो जानना । यहाँ यह शंका है कि “ बन्धानादू व्यसनात् ” यह जो भरताचार्यकी उक्ति सो इस पक्षमें विरुद्ध होती है वयोंकि इस ग्रन्थसे बन्धनादिको ही विभावताका कथन है । इसका समाधान यह है कि बध्यमानको भी बन्धन विना करुणका विभावत्व नहीं होताहै इस अर्थको भरतवाक्य ध्वनित करताहै । इस ही प्रकार सब जगह विभावोंमें रीतिका अनुसरण करलेना, इस ही अभिप्रायसे यहाँ स्वशापबन्धनादिको विभाव कहेहैं ।

अब स्वनिष्ठ करुणरसका उदाहरण “ तव ” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि रतिकी उक्ति है कि हे नाथ ! आपका शर और धनुष आपके दैहके साथ एक ही कालमें भस्म होगया और मैं हूं अर्थात् भस्म नहीं दुई हूं इस हेतु मैं आपकी नहीं हूं ऐसा जाना जाताहै ऐसे निश्चयके उत्तर क्या कहूं ? अर्थात् हमको त्यागकरिकै किस प्रकार परलोकके पथिक हुए इत्यादि क्या कहूं । अब परनिष्ठ करुण रसका उदाहरण—“ अनुवन्म ” इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि बनको लक्ष्यकरिकै जाते हुए और बाष्पजलको त्यागते हुए और म्लान कम-

दिनमपि रविरोचिस्तापमन्तः प्रसूते  
रजनिरपि च धत्ते तारकाबाष्पविन्दून् ॥ ९ ॥  
परिपूर्णः क्रोधो रौद्रः, सर्वेन्द्रियाणामौद्धत्यं वा । वर्णोऽस्य  
रक्तो दैवतं रुद्रः । यथा-

चण्डांशुः किं न चक्रं भुजगपतिरसौ वर्तते वा न पाशः  
कुन्तः किं दन्तिदन्ता न च गिरिरशनिः किं न शस्त्रैः किमन्यैः।  
भीमोऽहं दुष्टदुर्योधननिधनसमुद्दण्डबाहुप्रकाण्डः  
प्रत्यावृत्तप्रकोपप्रलयहुतवहो नास्मि कस्याऽपि वश्यः ॥ १० ॥  
यथा वा-

लमालाकी तरह कृश ऐसे रामको देखकरि कै दिन भी सूर्यके प्रचण्ड आतपस्वरूप तापको अर्थात् दिनके मध्यमें आर्तिज्वरको प्रकट करता है और रात्रि भी तारका स्वरूप बाष्पविन्दु भींको धारण करती है ।

अब रौद्रका लक्षण कहतेहैं “परिपूर्णः” इत्यादि वाक्यते । वाक्यार्थ यह है कि परिपूर्ण जो क्रोधरूप स्थायिभाव सो रौद्र है । अथवा पूर्वोक्त प्रकारमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी जो उद्धतता सो रौद्र है । इसका वर्ण रक्त है, देवता रुद्र है । यद्यपि रौद्र रस अमृत होनेसे रक्तरूपवान् नहीं हो सकता है, देवताके रूपसे रूप कहोगे सों बन नहीं सकगा क्योंकि रुद्रका रूप श्वेत है फिर रक्तवर्ण कसे कहा ? यह शंका है तथापि अन्तःकरणवृत्तिकालमें देवताका जैसा वर्णका अनुभव किया जाता है उस ही वर्णसे रसको वर्णवत्ताका अध्यवसान करते हैं । ऐसा हुआ तो क्रोधाविष्ट रुद्रका भी वर्ण रक्त है इस हेतु रसको भी रक्तवर्ण कहा । कोपकालमें वर्ण रक्त होता है इसम “कोपेन चास्या वदनं मषीवर्णमभूत्तदा” यह वाक्य प्रमाण है । यहां मषीगुज्ञाका नाम है सो जानना ॥ अब रौद्र रसका उदाहरण—“चण्डांशुः” इत्यादि इलोकसे कहतेहैं । क्षोकार्थ यह है कि भीमसेन कहता है कि सूर्य जो है सो चक्र नहीं है क्या ? शेष नागपाश नहीं है क्या ? हाथीके दांत भाले नहीं हैं क्या ? पर्वत बज्र नहीं है क्या ? अपि तु है हीं फिर और शस्त्रोंसे क्या प्रयोजन है ? दुष्ट जो दुर्योधन उसके मारनेके निमित्त सम्यक् प्रकार ऊंचा किया है दण्ड जिसने ऐसा है बाहुरूप अवयव जिसका ऐसा और प्रत्यावृत्त अर्थात् फिर उदीस जो क्रोध सो ही है प्रलयकालीन अग्नि जिसका ऐसा जो मैं भीम सो किसी आधीन नहीं हूं ।

क्रीडातुङ्गतुरङ्गयापपटलीखर्वीकृतोर्धीधर-  
थ्रेणीस्फूर्जितधूलिधारिणि तमस्तोमावलीढं जगत् ।  
बद्धस्पद्धकरीन्द्रवृन्दचरणव्याभुग्रभोगीश्वर-

व्यग्रोदयफणाग्ररत्नरुचिभिर्विद्योतयामो वयम् ॥ ११ ॥  
परिपूर्ण उत्साहः सर्वेन्द्रियाणां प्रहर्षो वा वीरः । वर्णोऽस्य  
गौरः । दैवतं शक्रः । स च त्रिधा-युद्धवीरदानवीरदयावीर-  
भेदात् । इयांस्तु विशेषः । स चोत्साहो युद्धवीरे प्रतापाऽध्य-  
वसायादिप्रभवः, दानवीरे दानसामर्थ्यादिप्रभवः, दयावीर  
आर्द्रतादिप्रभवः । युद्धवीरो यथा-

संग्रामाङ्गणमागते दशमुखे सौमित्रिणा विस्मितं

सुग्रीवेण विचिन्तितं हनुमता व्यालोलमालोकितम् ।

अब उदाहरणान्तर कहते हैं “क्रीडातुङ्ग” इत्यादि इलोकसे । इलोकार्थ यह है कि किसीकी उक्ति है कि शरोंसे क्रीडा करनेको उच्चतर अश्व उनके खुरोंका जो समूह उनसे खोदे गये जो पर्वतके समूह उनसे उत्पन्न जो धूलिसमूह तटूप जो अन्धकारसमूह उसके व्याप ऐसा जो जगत् अर्थात् सामन्त सैन्यादि उसको हम सुरेश्वरकी दीर्घताको नहीं सहकरिकै वांधी है स्पर्धा जिनने ऐसे जो बडेबडे हाथियोंके चरण उनसे भारभरसे नम्रीकृत जो भोगीश्वर अर्थात् पृथ्वीका आधार भूत शेष नाग उसकी व्यग्र अर्थात् चलित और उत्कृष्ट जो फणामणि उनकी कान्तिसे प्रकाशित करते हैं । अभिप्राय यह है कि पर्वतके चूर्णसे जो विवर उससे निकली जो मणियोंकी कान्ति उनसे जगत्को प्रकाशित करते हैं । अब वीरताका लक्षण कहते हैं “परिपूर्णः” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि परिपूर्ण जो उत्साह अथवा पूर्वोक्तप्रकारसे जो संपूर्ण इन्द्रियोंका प्रहर्ष सो वीर है । इसका वर्ण गौर है, देवता इन्द्र है । वह वीर तीन प्रकारका है एक युद्धवीर, दूसरा दानवीर, तीसरा दयावीर । इतना विशेष है कि वह उत्साह युद्धवीरमें तो प्रतापके ज्ञानसे उत्पन्न होताहै, और दानवीरमें दानसामर्थ्यसे उत्पन्न होताहै, और दयावीरमें आर्द्रतादिसे उत्पन्न होताहै ।

अब युद्धवीरका उदाहरण “संग्राम” इत्यादि इलोकसे कहतेहैं । इलोकार्थ यह है कि रावण जो है उसको संग्रामभूमिमें आवत सन्ते लक्ष्मण विस्मयको प्राप्त

श्रीरामेण परन्तु पीनपुलकस्फूर्जत्कपोलथ्रिया  
सान्द्रानन्दरसालसा निदधिरे वाणासने हृष्टयः ॥ १२ ॥  
दानवीरो यथा-

अभ्यागच्छति मंदिरं द्विजकुले खण्डाय खण्डाम्बुधिं  
क्षाराब्धिं लवणाय दुग्धजलधिं दुग्धाय चेहास्यति ।  
दुर्वारो विरहो भवेदिति भिया दीनेव दिव्यापगा  
यस्यांत्रिं न जहाति विप्रवपुषे रामाय तस्मै नमः ॥ १३ ॥

दयावीरो यथा-

दयावीजं हरेनेत्रमंकुरस्तत्र भास्करः ।

ततः समुत्थितावेतौ पल्लवौ रामलक्ष्मणौ ॥ १४ ॥

होते हैं। अभिप्राय यह है कि आजही कृतकृत्य होंगे इस हर्षसे विस्मयको प्राप्त हुए, और सुयोग चिन्तवन करता हुआ। अभिप्राय यह है कि किस प्रकार हमही इसको मारकर श्रीरामके अनृणी होंगे, यह चिन्तवन करता भया। और हनुमान् व्यालोल अर्थात् राम, रावण दोनोंका एक कालमें चक्षुका संचार जैसे होय तैसे ज्ञांकते भये, अभिप्राय यह है कि राम आज्ञा दें तो इसको बांधकर गिरा दें। इस विचारसे ज्ञांकते भये, परन्तु रामने तो धनुषमें दृष्टिको स्थापित करदी। कैसे हैं राम कि उत्साहका कार्य जो अंगपुष्टि उससे युक्त और रोमाञ्चसे स्फूर्जत् अर्थात् शोभित है कपोलथ्री जिसकी ऐसे, दृष्टि कैसी है कि निवेदआनन्दात्मक रससे आलसयुक्त ऐसी ॥

अब दानवीरका उदाहरण- “अभ्यागच्छति” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि विप्रवपु अर्थात् ब्राह्मण अथवा ब्राह्मणके कार्यसंपादनार्थ है शरीर जिनका ऐसे अर्थात् परमपुरुषरूप जो वह राम उनके अर्थ नमस्कार है। वह कौन सो कहते हैं कि गंगा इस भयसे ही मानो दुःखित होकरिकै जिसके चरणका त्याग नहीं करती है, यह भय कौन सो कहते हैं कि ब्राह्मणकुल याचक होत सन्ते आपके मन्दिरको प्राप्त होत सन्ते अर्थात् अतिथियाको प्राप्त होत सन्ते परशुराम जो है सो खांडके निमित्त खण्डसमुद्रको, लवणके निमित्त क्षारसमुद्रको, दुग्धके निमित्त दुग्धसमुद्रको, जो देंदेंगे अर्थात् ब्राह्मणोंके आधीन करदेंगे तो हमारा जो विरह अर्थात् प्रियविश्लेष सो अप्रतीकार होजायगा इस भयसे ।

अब दयावीरका उदाहरण कहते हैं “दयावीजम्” इत्यादि श्लोकसे ।

भयस्य परिपोषः सर्वेन्द्रियविक्षोभो वा भयानकः ।  
वर्णोऽस्य श्यामोदैवतं यमः । स च स्वनिष्ठः परनिष्ठश्च ।  
अपराधात्स्वनिष्ठो यथा—

गोपीक्षीरघटीविलुण्ठनविधिव्यापारवार्ताविदोः  
पित्रोस्ताडनशंकया शिशुवपुर्देवः प्रकाश्य ज्वरम् ।  
रोमाञ्चं रचयन्वृशौ मुकुलयन्प्रत्यंगमुत्कम्पयन्  
सीत्कुर्वस्तमसि प्रसर्पति गृहं सायं समागच्छति ॥ १६ ॥

इलोकार्थ यह है कि विष्णुका जो नेत्र सो दयाका बीज अर्थात् असाधारण कारण है (यहां दयापदका वाक्यार्थ इच्छा विशेषसे अतिरिक्त है) वह दया व्यञ्जनावृत्तिसे इच्छाविशेषरूप दयावीरोत्साहकी बोधक है, ऐसा हुआ तो रक्षणादिरूप व्यापार ही यहां दयापदार्थ है, इससे वमनाख्य दोषका निवारण होगया सो जानना । उस दयावीजरूप नेत्रमें अंकुर सूर्य होतेमये, उस अंकुरसे ये राम लक्ष्मण पल्लव होतेमये, यहां ईश्वरपल्लवारोपाऽनुगुणरूप जो अनुभाव उससे अनुभावित गम्यजगद्विभावित गम्योत्साहचिन्तादि संचारित दयावीरोत्साह व्यंग्य है इस हेतु उदाहरण बनगया ।

अब भयानकका लक्षण कहतेहैं “भयस्य” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि भयकी पुष्टा अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी क्षुब्धता जो है सो भयानक है । इसका वर्ण श्याम है, दैवता यम है वह दो प्रकारका है एक स्वनिष्ठ दूसरा परनिष्ठ । यहां भी पूर्ववत् स्व अर्थात् भयानकके अधिकरणमें रहनेवाला जो विभाव सो है आलंबन जिसका अथवा स्वका जो अधिकरण सो ही है आलंबन जिसका वह स्वनिष्ठ भयानक रस है इसही अभिप्रायसे कहतेहैं कि अपराधसे जो भय सो स्वनिष्ठ है यहां अपराध भी स्वनिष्ठ जानना । अब भयानकका उदाहरण “गोपीक्षीर” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि बालशरीर श्रीकृष्ण जो हैं सो गोपियोंका दुग्धसे भरा हुआ जो घट उसका जो लूटना सो ही है फल जिसका ऐसा जो व्यापार उसकी कथाको जानते हुए । जो पितामातारूप नन्द यशोदा तत्कर्तुक ताडनकी शंकासे ज्वरको प्रकाशित करिके रोमाञ्चको रचतेहुए और हृषिको मुकुलित करते हुए और तत्तत् अंगको उत्कम्पित करते हुए और सीत्कारको करते हुए, सायंकाल अन्धकार होत सन्ते वर आते हैं ॥

**परनिष्ठो यथा-**

गंगायाः सलिले निमज्जति जटाजूटे परित्राम्यति  
ब्रश्यत्यक्षिद्वुताशने फणिफणाभोगे क्वचिल्लीयते ।  
कुञ्जीभूय हरस्य कर्णसुषिरं निर्गन्तुमुत्कण्ठते  
राहोरास्यमुदीक्ष्य किं न कुरुते बालस्तुषारव्युतिः ॥१६॥

**विकृतनिनदात्परनिष्ठो यथा-**

कुर्वणे दशभिर्मुखैर्दशमुखे नादं सुरैः कंपितं  
दिङ्नागैश्चकितं हरेरपि हयैरुत्पुच्छमाधावितम् ।  
सुग्रीवस्तु समुच्छलजलनिधिव्यालोलवीचिभ्रमि—  
ब्रश्यत्सेतुविशङ्क्या हनुमतो वक्रे हशौ सन्दधे ॥ १७ ॥

अब परनिष्ठ भयानकका उदाहरण “गंगायाः” इत्यादि इलोकसे कहते हैं। यहां स्वाधिकरणमें नहीं रहनेवाला जो विभाव सो है आलम्बन जिसका अथवा स्वाधिकरणसे अन्य है आलम्बन जिसका ऐसा जो भयानक रस वह परनिष्ठ कहाता है। यहां परनिष्ठ क्रूरतासे परनिष्ठ जानना। इलोकार्थ यह है कि बाल अर्थात् कलावशिष्ट जो चन्द्रमा है सो राहुके मुखको देखकरिके क्या क्या साहस नहीं करता है अपि तु सब साहस करता है क्योंकि शास्त्रमें ऐसा कहा है कि साहसपर प्राप्त हुए विना मनुष्य कल्पाणको नहीं देखता है और साहसमें प्राप्त होकरिके जो जीवा है तो देखता है। वही साहस दिखाते हैं कि महादेवशिरःस्थ गंगाके जलमें डूबता है, और हरके जटाजूटमें भ्रमण करता है और नेत्ररूप अग्निमें पड़ता है और फणी अर्थात् सर्पके फणाभोगमें कहीं गुप्त होजाता है, और कुञ्ज अर्थात् शरीरको प्रवेशानुग्रहकरिके महादेवके कर्णविवरमें जानेकी उत्कण्ठा करता है।

अब परकृत जो विकृत शब्द उससे परनिष्ठ भयानकका उदाहरण कहते हैं “कुर्वणे” इत्यादि इलोकसे। इलोकार्थ यह है कि रावण जो है उसको दशमुखोंसे दशदिशाओंमें नाद करत सन्ते देवता कम्पको प्राप्त होगये और दिङ्नाग अर्थात् ऐरावतादि विस्मयको प्राप्त होगये और सूर्यके सातों अथ भी उच्च पुच्छको करिके दौड़ते थे, सुग्रीव तो उछलता हुआ और अतिक्षोभको प्राप्त जो समुद्र उसकी वेगयुक्त जो लहर उनका जो आवर्त उससे नाशयुक्त सेतुकी शङ्काकरिके हनुमानके मुखमें दृष्टिको योजित करता भया। अब बीमत्सका लक्षण कहते हैं।

जुगुप्सायाः परिपोषो वीभत्सः । सर्वेन्द्रियाणां संकोचो वा ।  
वर्णोऽस्य नीलो देवतं महाकालः । स च स्वनिष्ठः परनि-  
ष्टश्चेति । स्वनिष्ठो यथा-

कालीकुण्डलिनीकुरूहलमिथःप्रारब्धथूथूत्कृति-  
न्यञ्चद्वीचिचलद्विहायसि वलजङ्घल्लीनिपातस्पृशि ।  
बद्धस्पद्धविपक्षपक्षरुधिरस्तोतःस्त्रिनीस्तोतसि  
भ्रश्यत्युद्गमति स्खलत्यथ रणक्रोधःकुलो भार्गवः ॥१८॥

परनिष्ठो यथा-

छत्रं कुम्भीन्द्रकर्णीर्विरचयत नुतं चामरं व्यालपुच्छे--  
मालां मुण्डैः प्रचण्डैः सृज गजजघनैर्मडपं योजयस्व ।

“जुगुप्सायाः” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि परिषुष्ट जो जुगुप्सा अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंका जो संकोच सो वीभत्सरस है । इसका वर्ण नील है, और देवता महाकाल है । यह दो प्रकारका है—एक स्वनिष्ठ दूसरा परनिष्ठ । यहाँ भी स्वाधिकरण वृत्तिविभाव है आलम्बन जिसका अथवा स्वाधिकरण है आलम्बन जिसका ऐसा वीभत्स स्वनिष्ठ है । और स्वाधिकरणमें नहीं रहनेवाला विभाव है आलम्बन जिसका अथवा स्वाधिकरणभिन्न है आलम्बन जिसका वह वीभत्स परनिष्ठ है सो जानना ॥

अब स्वनिष्ठ वीभत्सका उदाहरण “कालीकुण्डलिनी” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि परशुराम जो हैं सो वांधी है स्पद्धा जिसने ऐसा जो शत्रुवर्ग उसके रुधिरसे उत्पन्न जो नदी उसके प्रवाहमें पड़ते हैं, और मोहको प्राप्त होते हैं और ठोकर खाते हैं । कैसे हैं परशुराम कि रणसम्बन्धी जो क्रोध उससे आकुल अर्थात् संग्रामाऽनुग्रुण क्रोधसे व्यग्र ऐसे । प्रवाह कैसा है कि कालीनामिका और कुण्डलिनीनामिका जो योगिनीविशेष उनने कौतुकसे परस्पर आरम्भ की जो यूथूत्कृति अर्थात् थूकना उससे चलती हुई जो तरंग उनमें चलता हुआ जो गगन अर्थात् गगनसम्बन्धी तारा सो है जिसमें ऐसा । और वलित जो क्षिण्डी उसका जो परिपतन उससे युक्त ऐसा ॥ अब परनिष्ठ वीभत्सका उदाहरण “छत्रम्” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि कुण्डलिनीनामिका जो योगिनी प्रेतमुख्य उसके पुत्रका जो विवाह उसके प्रारम्भसे है जन्म जिसका ऐसा

अन्त्रैर्नीराजनायाः कलय विधिमितिप्रेतवृद्धाङ्गनाना--  
 मालापः कुण्डलिन्यास्तनयपरिणयारम्भजन्मा बभूव १९  
 विस्मयस्य सम्यक्समृद्धिरद्गुतः, सर्वेन्द्रियाणां ताटस्थयं  
 वा । वर्णोऽस्य पीतो दैवतं ब्रह्मा । स च स्वनिष्ठः पर-  
 निष्ठश्च । स्वनिष्ठो यथा-  
 लीलानिबद्धपाथोधिर्हेलाहतदशाननः ।  
 स रामः सीतयाश्लिष्टमात्मानं बह्वमन्यत ॥ २० ॥  
 परनिष्ठो यथा-

त्यक्ता जीर्णदुकूलवद्वसुमती बद्धोम्बुधिर्बिन्दुव--  
 द्वाणायेण जरत्कपोतक इव व्यापादितो रावणः ।

प्रेतवृद्धविद्योंका इस प्रकार आलाप होता भया । किस प्रकार सो कहते हैं कि बड़े जो हस्तियोंके कर्ण उनसे छत्र बनावो, आर दो जने घोड़ोंकी पुच्छोंसे चामर बनावो, और प्रचण्ड अर्थात् उग्र है दर्शन जिनका ऐसे जो मुण्ड उनसे मालाव-नावो, और हाथियोंकी जंघाओंसे मण्डप बनावो, और अन्त्रोंसे नीराजनाविधि अर्थात् आरतियोंको करो । यहां रसका आश्रय जो देखनेवाले पुरुष सो आक्षेप योग्य हैं यह बात आगे व्यक्त होगी ॥

अब अद्गुतका लक्षण कहते हैं “विस्मयस्य” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि विस्मयकी जो सम्यक्समृद्धि अर्थात् पुष्टा अथवा सर्वेन्द्रियोंकी जो तटस्थता सो अद्गुत है । इसका वर्ण पीत है देवता ब्रह्मा है । यह भी दो प्रकारका है एक स्वनिष्ठ दूसरा परनिष्ठ । इनका लक्षण पूर्ववत् जानना । अब स्वनिष्ठ अद्गुत रसका उदाहरण “लीलानिबद्ध” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि वह राम सीतासे शिलष्ट आत्माको बहुत मानता भया । वह कौन कि लीलासे बाँधा है समुद्र जिसने । किर वह कौन कि लीलासे मारा है रावणको जिसने । यहां पूर्वार्थमें द्वितीयान्त पाठ होवे तो ‘लीलानिबद्धपाथोधि हेलाहतदशाननम्’ ऐसा अर्थ करना कि प्रसिद्ध जो राम सों लीलानिबद्ध पाथोधि और हेलाहतदशानन ऐसे आत्माको सीतासे संशिलष्ट होनेपर बहुत मानता भया । जिस प्रकार सीताक्षेपसे विस्मित होता भया तिस प्रकार किसीसे विस्मित नहीं हुआ यह अभिप्राय दोनोंही पाठोंसे फलित है सो जानना ।

अब परनिष्ठ अद्गुतका उदाहरण “त्यक्ता” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ

लंका काऽपि विभीषणाय सहसा मुद्रेव हस्तेऽर्पिता  
श्रुत्वैवं रघुनन्दनस्य चरितं को वा न रोमाञ्चति ॥ २१ ॥  
अत्युक्तिभ्रमोक्तिचित्रोक्तिविरोधाभासप्रभृतयो अद्भुता एव ।  
अत्युक्तिर्यथा-

भूयादेष सतां हिताय भगवान्कोलावतारो हरिः  
सिन्धोः कुशमपास्य यस्य दशनप्रान्ते स्थिताया भुवः ।  
तारा हारति वारिदस्तिलकति स्वर्वाहिनी माल्यति  
क्रीडादर्पणति क्षपापतिरहदेवश्च ताटंकति ॥ २२ ॥

यथा वा-

दिव्यहरेमुखकुहरे विस्तीर्णे पर्णति व्योम ।  
चूर्णति चन्द्रः क्रमुकति कनकगिरिः खदिरसारति खरांशुः २३

यह है कि इस प्रकार रामका चरित सुनकरिकै कौन पुरुष रोमाञ्चयुक्त नहीं होता है अपितु सब ही रोमाञ्चयुक्त होते हैं । किस प्रकार सो कहते हैं कि पुराने वस्त्रकी तरह ममताको त्यागकरिकै पृथिवी अर्थात् राज्यका बनवास लेकर त्याग कर दिया । और समुद्रको अनायाससे बिन्दुकी तरह बांध दिया । और बाणके अग्रभागसे वृद्ध कपोतकी तरह दुर्बलतासे रावणको मार दिया । और कोई अर्थात् अपरिमित धनशालिनी जो लंका सो मुद्राकी तरह अल्पत्वाभिमानसे विभीषणको आश्वासनार्थ प्रथमदर्शनमें ही हातमें दैदी । प्रतिज्ञामात्र भी नहीं की । इसप्रकार अत्युक्ति आदिक चारों अद्भुतरसके अभिव्यञ्जक ही हैं इससे इन सबका अद्भुतमें अन्तर्भाव कर देना । तहां अत्युक्तिका उदाहरण “भूयादेष” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि यह जो सूकरशरीरयुक्त भगवान् सो साधुपुरुषोंके हितके अर्थ होवो । यह कौन सो कहते हैं पृथिवीके उद्धारप्रसंगमें समुद्रमज्जनसे प्राप्त जो क्षेत्र उसको दूरकरिके जिनके दशनके अग्रमें स्थित जो पृथिवी उसके नक्षत्रगण जो हैं सो उज्ज्वलमणिहारवत् आचरण करता है । मेघ जो है सो तिलकरूप होता है । गंगा स्वच्छतासे पुष्पमालारूप होती है । चन्द्रमा क्रीडादर्पणवत् आचरण करता है । सूर्य स्वर्णवर्ण होनेसे ताटंकवत् आचरण करता है ।

इसका दूसरा उदाहरण “दिव्य” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि शूकरावतार विष्णुके विस्तीर्ण मुखछिद्रमें आकाश ताम्बूलवत् आच-

## भ्रमोक्तिर्थथा-

तीव्रैस्तिग्मरुचः करैः परिचितां सेकुं कपोलस्थलीं  
 नीराणां निकरं करेण हरता तुच्छीकृते वारिधौ ।  
 मैनाकं समुदीक्ष्य पंकपतितं शालूकशंकाजुषो  
 हेरम्बस्य पुनातु दन्तशिखरव्यापारलीलारसः ॥ २४ ॥

## यथा वा-

अन्तःक्रोधाग्निजायत्कपटनरहरिस्फारनिःश्वासवात्-  
 व्याधूता वारिवाहाः कुलधरणिभृतः सानुषु प्रस्खलन्तः ।  
 दिङ्नागैर्नागबुद्ध्या वनहरिणकुलैः शंकया शाद्वलानां  
 छायाप्रान्त्या किरातैः शितिवसनधिया वीक्षिताः स्वर्वधूभिः २५  
 चित्रोक्तिर्थथा-

रण करता है, और चन्द्रमा चूर्णस्थानाभिषिक्त होता है, स्वर्णपर्वत सुपारीवत् आच-  
 रण करता है, सूर्य काथाकी तरह आचरण करता है, इसका अभिप्राय यह है कि  
 भगवन्मुखान्तर्गत जगत् का रञ्जक होनेसे खदिरवत् सूर्य है ।

अब भ्रमोक्तिका उदाहरण “तीव्रैः” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है  
 कि गणेशका जो दन्तका शिखरकी तरह शिखर अर्थात् दन्तायमाग उसका जो  
 खोदनेके अनुकूल व्यापार तहाँ जो लीलारस अर्थात् प्रीत्यतिशय सो मनोगोचर  
 होकरिकै पवित्र करो । कैसे हैं गणेश कि पंक अर्थात् सूकते हुए समुद्रके कर्दममें  
 पतित जो हिमालयपुत्र मैनाकनाम पर्वत उसको देखकरिकै शालुक जो कन्द-  
 विशेष उसकी शंकासे युक्त, क्या होत सन्ते सो कहते हैं कि अतिशय उष्ण जो  
 सूर्यकिरण उनसे व्याप जो गण्डस्थली उसको सींचनेके अर्थ जिसके समूहको हरण  
 करनेवाला जो शुष्ठादण्ड उससे समुद्र तुच्छीकृत होत सन्ते अर्थात् शुष्ठहोत सन्ते  
 इसका दूसरा उदाहरण “अन्तः” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है  
 कि अन्तःकरणस्थित क्रोधाग्निसे उत्पन्न हुआ जो कपटनृसिंह अर्थात् धृतावतार  
 नृसिंहका बहुत निःश्वासपवन उससे क्षिति और कुलाचलपर्वतके शिखरमें पड़ते  
 हुए जो मेघ सो दिग्गजोंने हस्तीकी बुद्धिसे, और वनहरिणसमूहोंने शाद्वल

गिरिव्यमति मौक्तिकावलिमलिद्यं स्थावरं  
 शरत्तुहिनदीधितिव्यजनमारुतं वाञ्छति ।  
 धनुः स्वपिति मान्मथं शिथिलबन्धमन्धन्तमो  
 नमो मनसि जायते किमपि कौतुकं तन्वते ॥ २६ ॥  
 लाक्षणिकमखिलं चित्रोक्तिरेव । विरोधाभासो यथा-  
 कोऽप्यसौ तव मुकुन्द नन्दकोऽनन्दको भवति कंससंपदः ।  
 कुण्डली त्वमसि कालियं कुतो दूरतो नयसि तन्निवेदय ॥ २७ ॥

त्रृणविशेषकी बुद्धिसे और किरातोंने छायाभ्रान्तिसे और अप्सराओंने नील वस्त्रबुद्धिसे देखे गये ।

अब चित्रोक्तिका उदाहरण ‘‘गिरिः’’ इत्यादि इलोकसे कहते हैं। इलोकार्थ यह है कि पर्वत अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित कुचमण्डल जो है सो मौक्तिकावलि अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित स्वेदबिन्दुरचनाको बाहर करता है। और भ्रमरद्वय अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित मुख, व्यजनका पवन अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित श्वासको धारण करता है। और कामदेव सम्बन्धी धनुष अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित जो भ्रुकुटियुग सो उदासीनताको धारण करता है। और अन्य जो तम अर्थात् अतिनीलतासे अध्यवसित केशपाश गलितवन्ध होता है, इस हेतु कुछ अर्थात् आप आपका अनुभवैकवेद्य जो कौतुक अर्थात् चमत्कार उसको विस्तार करनेवाले जो कामदेवरूप आप उनको अनन्य साधारणकलापात्रतासे नमस्कार करताहूँ। सारोपलक्षणा और साध्यवसानलक्षणासे युक्त पदोंसे घटित जितने वाक्य हैं सो सम्पूर्ण चित्रोक्ति ही हैं ॥ विरोधाभासका उदाहरण ‘‘कोप्यसौ’’ इत्यादिइलोकसे कहते हैं। इलोकार्थ यह है कि हे मुकुन्द ! आपका जो कोई यह अर्थात् सर्वलोकप्रसिद्ध है प्रभाव जिसका ऐसा जो नन्दक नाम खड़ग सो कंससंपत्तिका अनन्दक अर्थात् नाशक होता है । हे मुकुन्द ! तुम कुण्डली अर्थात् कर्णभूषणयुक्त हो फिर कालियनाम जो कुण्डली उसको कौन उद्देश्यसे दूर करिकै फेंकते हो, इसका प्रयोजन हमको कहो । यहां कुण्डली-सामान्यके अपाकरणको उद्देश्य करिकै जो यह आपका व्यापार उससे कुण्डलीसामान्यका अपाकरण आपके समीपमें नहीं सम्भव हुवा इससे विरोध हुवा । सर्व-सामान्यका अपाकरण सम्भव होनेसे आभासरूप हुआ । इसही प्रकार पूर्वार्धमें

नाट्ये च सर्वे रसा आनन्दरूपा अद्भुताख्यः परनिष्ठ एवेति ।  
 चित्तवृत्तिर्दिंधा—प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्चेति । निवृत्तौ यथा शान्त-  
 रसस्तथा प्रवृत्तौ मायारस इति प्रतिभाति । एकत्र रसोत्प-  
 त्तिरपत्र नेति वक्तुमशक्यत्वात् । न च स रतिरेव सकस्यास्तु  
 व्यभिचारी । न शृङ्गारस्य, तद्वैरिणो वीभत्सस्यापि तत्र  
 सत्त्वादत एव न वीभत्सस्यापि । न हास्यस्य, तद्वैरिणः करु-  
 णस्य तत्र सत्त्वादत एव न करुणस्याऽपि । न रौद्रस्य, तद्वै-  
 रिणोऽद्भुतस्याऽपि तत्र सत्त्वादत एव नाद्भुतस्याऽपि । न च-  
 वीरस्य, तद्वैरिणो भयानकस्याऽपि तत्र सत्त्वादत एव न  
 भयानकस्याऽपि । नाऽपि शान्तस्य, तद्विरोधित्वात् । न  
 च सामान्य एव रसस्तद्विशेषा इतरे भवन्ति, शान्तरसस्य  
 तर्हि रसाभासत्वापत्तेः । किन्तु विद्युत इव रतिहासशोक-  
 क्रोधोत्साहभयजुगुप्साविस्मयास्तत्रोत्पद्यन्ते विलीयन्ते च ।

भी जानलेना । नाट्यमें और चकारसे काव्यमें सम्पूर्ण अर्थात् आठ प्रकारके रस आनन्दरूप हैं, और अद्भुताख्य अर्थात् विस्मयनाम जो व्यभिचारभाव है सो परनिष्ठ अर्थात् नटसे भिन्न जो सामाजिक तद्रत ही है । एवकारसे यह सूचित हुआ कि काव्यमें तो कविमें और सहदयमें भी अद्भुत रस रहता है ॥

अब नाट्यभिन्न स्थलमें शान्तरस विरोधितासे मायारसकी व्यवस्था करनेको भूमिका रखते हैं “चित्तवृत्ति” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि चित्तवृत्ति दो प्रकारकी है । एक प्रवृत्ति, एक निवृत्ति । तदां उपादेयताद्बुद्धि प्रवृत्ति है और हेयताद्बुद्धि निवृत्ति है । निवृत्तिमें जैसे शान्त रस है तैसे प्रवृत्तिमें मायारस है, यह दीखता है क्योंकि निवृत्तिमें रसोत्पत्ति है, प्रवृत्तिमें नहीं है, यह कहनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं इससे मायारस मानना चाहिये । यहां यह शंका होती है कि मायारस रतिरूप ही मानना । इसका समाधान यह है कि यह रति कौन रसका व्यभिचारिभाव होगा ? शृंगारका कहोगे सो नहीं कह सकते हो, क्योंकि शृंगारका विरोधी जो वीभत्स उसकी भी मायारसमें स्थिति है । इससे शृंगारका व्यभिचारिभाव नहीं हो सकता है । इस ही हेतु वीभत्सका भी व्यभिचारी नहीं हो सकता है क्योंकि वीभत्सका विरोधी शृंगार भी वहां है । कदाचित् हास्यका कहो तो सो भी नहीं हो सकता है

तेन तत्र ते व्यभिचारिभावा इति । लक्षणं च प्रबुद्धमिथ्या-  
ज्ञानवासना मायारसः । मिथ्याज्ञानमस्य स्थायिभावः ।  
विभावः सांसारिक भोगार्जकधर्माधर्माः । अनुभावः पुत्रे-  
कलत्रविजयसाम्राज्यादयः यथा—

वाटी लाटीहग्म्भोरुहरभसकरी वापिका काऽपि कान्ता  
तरूपं चन्द्राऽनुकरूपं प्रकटयति मिथः कामिनी कामनीतिम् ।

रूपं कामाऽनुरूपं मणिमयभवनं बन्धुरं बन्धुरागो  
लोके लोकेश कस्य त्वमसि न भवने सर्वदा सर्वदाता ॥ २८ ॥

क्योंकि हास्यका विरोधी करुण भी वहाँ है । इसही हेतु करुणका भी नहीं हो सकता है कदाचित् रौद्रका व्यभिवारी कहो तो सो भी नहीं हो सकता है । क्योंकि रौद्रका विरोधी अद्भुत भी वहाँ स्थित है इसही हेतु अद्भुतका भी नहीं हो सकता है । कदाचित् वीरका कहो तो सो भी नहीं कह सकते हो क्योंकि उसका विरोध भयानक भी वहाँ स्थित है, इसही हेतु भयानकका भी नहीं हो सकता है । शान्तका कहो तो सो भी नहीं हो सकता है क्योंकि शान्तरस और मायारस दोनों विरुद्ध हैं इस हेतु मायारस रतिरूप नहीं है किन्तु भिन्न ही है । यहाँ यह कहो कि रस तो सामान्यरूपही है उसहीको मायारस कहते हैं । उसहीके विशेष आठ भेद हैं तो मायारस भिन्न नहीं रहा ये ही आठों मायारस कहाँगे तो सो नहीं कह सकते हो, क्योंकि ऐसा कहो तो शान्तरस रसाभास कहा जायगा इस हेतु मायारस अतिरिक्तही कहना । इस मायारसमें रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय ये विद्युतकी तरह उत्पन्न होते हैं और लीन हो जाते हैं, इस हेतु मायारसमें ये आठों व्यभिचारिभाव हैं सो जानना ।

मायारसका लक्षण यह है कि प्रबुद्ध जो मिथ्याज्ञानवासना सो मायारस है मिथ्याज्ञान इसका स्थायिभाव है । और सांसारिक भोगके उत्पादक जो धर्म-धर्म सो विभाव हैं । पुत्रकलत्रविजयसाम्राज्यादि अनुभाव हैं । इसका उदाहरण “वाटी” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि लाट दशकी जो स्त्री उसकी जो दृष्टि सो ही हुआ कमल उसका जो वायुप्रेरणासे रभस अर्थात् वेग उसको करनेवाली फलपुष्पसमृद्धिहेतुसे ऐसी जो वाटिका सो स्थित है । और कोई जो कान्ता सो मनोविश्राम हेतु होनेसे कमल और सारंगादि पक्षियोंकी प्राप्ति होनेसे ऐसी जो वापिका सो स्थित है । और चन्द्रमाके सदृश पर्यंकको यह कामिनी

## नाट्यभिन्ने परं निर्वेदस्थायिभावकः शान्तोऽपि नवमो रसो भवति ।

नैर्मल्यमार्दवादि संबंधसे प्रकट करती है । ( यह कहनेसे उपभोगसाधनसम्पत्ति कारक अदृश्यरूप उदीपन विभाव कहा ) और कामिनी जो है सो कामनीति अर्थात् कामक्रीडाको परस्पर प्रकट करती है ( यह कहनेसे बहिरंद्रियजन्य आनन्द लक्षण शृंगाररूप व्यभिचारी सूचित किया) और मनोऽभिलिप्ति जो रूप अर्थात् आकृत्यादि उसको कामिनी प्रकट करती है ( यह कहनेसे कामिन्यादिकी बुद्धिरूप जो मिथ्याज्ञानवासना उसका आलम्बन विभाव दिखाया ) और मणिमय जो यह सो बन्धुर अर्थात् ऊँचानीचा सब ऋतुओंमें सेवनीय किया गया है ( यह कहनेसे धनसम्पत्ति कही ) और बंधुराग अर्थात् बन्धुजनप्रीति भवयं संपादित है सो है लोकेश ! तुम कौन पुरुषको लोकमें सर्वकालमें सब देनेवाले नहीं हो ? अर्थात् तीनों लोकोंमें विद्यमान जो संपूर्ण लोक उनको यथाकाल अनायाससे ही सब कुछ देते हो । यहां यथोक्त विभावादि संयोगसे अभिव्यञ्जमान जो कविकल्पित नायकगत मिथ्याज्ञानवासना सो मायारस है सो जानना ।

नाट्यभिन्न स्थलमें अर्थात् आदिकाव्य इतिहासादिमें तो निर्वेद है स्थायी जिसका ऐसा शान्त भी नवम रस है । यहां यह शंका होती है कि शान्त रसभिन्न माननेमें क्या प्रमाण है इसका समाधान यह है कि मुनिवचन ही प्रमाण है सो वचन ऐसा है कि “शृंगारः करुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽहुतस्तथा । हास्यो भयानकश्चैव वीभत्सश्चेति ते नव” । फिर यह शंका होती है कि शान्त रस नाट्यमें क्यों नहीं होता है, इसका समाधान यह है कि नटमें शमका अभाव है इस हेतु और विषयवैमुख्यात्मक जो शान्त रस उसके विरोधी जो गीतवाद्यादि उनकी नटमें स्थिति होनेसे वहां शान्तरसका संभव नहीं है सो जानना । इसमें प्रमाण “शान्तस्य शमसाध्यत्वाच्छटे च तदसम्भवात् । अष्टवेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते” यह वचन है और नवीनोंका तो यह मत है कि नटमें शम नहीं है इस हेतु नाट्यमें शान्त रस नहीं है यह कहना असंगत है, क्योंकि नटमें रसाभिव्यक्तिका स्वीकार नहीं है इस हेतु नटमें शान्त रस मत हो सामाजिकोंमें शम है इस हेतु सामाजिकोंको रसोद्वेष होनेमें कुछ वाधक नहीं । यहां यह शंका हुई कि नटमें जो शमका अभाव मानोंगे तो शमके अभिनयकी प्रकाशकता नटको नहीं होगी । इसका समाधान यह है कि शमका अभाव भी

निर्वेदस्य परिपोषः शान्तो रसः, दोषप्रशमो वा । दोषाः  
कामक्रोधादयः । अस्य विषयदोषविचारविरक्तयादयो  
विभावाः । अनुभावा आनन्दाश्रुपुलकहर्षगद्गदवचना-  
दयः । यथा-

हेयं हर्म्यमिदं निकुञ्जभवनं श्रेयः प्रदेयं धनं  
पेयं तीर्थपयो हरेर्भगवतो गेयं पदाम्भोरुहम् ।

नेयं जन्म चिराय दर्भशयने धर्मे निधेयं मनः  
स्थेयं तत्र सितासितस्य सविधे ध्येयं पुराणं महः ॥ २९ ॥

होगा तो भी अभिनयप्रकाशकता होनेमें कुछ बाधक नहीं ऐसा न मानें तो न टको  
भयक्रोधादिका भी अभाव होनेसे उसकी भी अभिनयप्रकाशकता शास्त्रोक्त असं-  
गत होजायगी । यदि ऐसा कहो कि न टको क्रोधादिका अभाव होनेसे क्रोधादिका  
कार्य जो वधवन्धनादि उसकी उत्पत्ति नहीं भी होगी तो भी कृत्रिम जो क्रोधादिका  
कार्य वधवन्धनादि उसकी शिक्षाभ्याससे उत्पत्ति होनेमें कोई बाधक नहीं है  
तो शमका अभाव होनेसे भी शमको कार्यकी शिक्षाभ्याससे उत्पत्ति होनेमें कोई  
बाधक नहीं तो नाट्यमें भी शान्तरस होनेमें कोई बाधक नहीं सो जानना ।

अब शान्तरसका लक्षण कहते हैं “निर्वेदस्य” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ  
यह है कि निर्वेदरूप स्थायिभाव अर्थात् नित्यानित्य वस्तुविचारजन्य विषयवि-  
रागारब्य चित्तवृत्तिविशेषकी जो पुष्टा अथवा दोषका जो प्रशमन सो शान्त  
रस है । यहां दोषपदसे कामक्रोधादि जानना । इसके विभाव विषयमें दोषविचार  
विरक्ति इत्यादि जानना और अनुभाव आनन्दसम्बन्धी अश्रु और रोपाश्रु और  
हर्ष और गद्गद वचन इत्यादि हैं । इसका उदाहरण “हेयम्” इत्यादि इलोकसे  
कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि कोई शान्त पुरुष कहता है कि प्रसिद्ध सम्पत्तियुक्त  
जो गृह सो अस्थिर होनेसे त्यागयोग्य है । ( यह कहनेसे विषय दोषबुद्धिरूप  
आलम्बन विभाव कहा ) और निकुञ्जभवन आश्रय करनेके योग्य है ।  
( इससे औदासीन्यरूप अनुभाव कहा ) और धन देनेके योग्य है इसमें हेतु यह  
है कि धन राग द्रेषका हेतु है इससे अनुपादेय है और तीर्थका जल अनायास  
सम्पत्तिसे पान करने योग्य है ( यह कहनेसे हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थ क्रियाहानि-  
रूप अनुभावान्तर कहा ) और समग्र ऐश्वर्य और वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य

यथा वा-

वेदस्याध्ययनं कृतं परिचितं शास्त्रं पुराणं श्रुतं  
 सर्वं व्यर्थमिदं पदं न कमलाकान्तस्य चेत्कीर्तिंतम् ।  
 उत्खातं सदृशीकृतं विरचितः सेकोऽम्भसा भूयसा  
 सर्वं निष्फलमालवालवलये क्षितं न बीजं यदि ॥ ३० ॥  
 इति श्रीभानुदत्तविरचितायां रसतरंगिण्यां रसनिरूपणंनाम  
 सप्तमस्तरंगः ॥ ७ ॥

यह जो छह प्रकारका भग यही हुआ गुण उससे युक्त जो विष्णु उसके चरणारविन्दकी स्तुति करना ( यह कहनेसे मतिरूप व्यभिचारभाव सूचित किया ) और कुशकी शर्यामें बहुत कालपर्यन्त जन्मको नीत करना ( यह कहनेसे तपस्विदर्शनरूप उद्दीपन कहा ) और मनको धर्ममें स्थापित करना ( यह कहनेसे वेदान्तश्रवणादि उद्दीपनान्तर कहा ) और गंगायमुनाके सान्निध्यमें अर्थात् प्रयाग नगरमें स्थिति करना ( यह कहनेसे तपोवन दर्शनादि उद्दीपनान्तर कहा ) और पुराणमह अर्थात् आत्मचैतन्यध्यान करनेके योग्य है ( यह कहनेसे नासाग्रहणरूप अनुभाव ध्वनित किया । )

शान्तरसका द्वितीय उदाहरण “वेदस्य” इत्यादि इलोकसे कहतेहैं । क्षेत्रकार्य यह है कि यदि कमलाकान्त भगवानके चरणारविन्दका कीर्तन नहीं किया तो वेदका अध्ययन किया सो और शास्त्रका परिचय किया सो और पुराणका श्रवण किया सो यह सब व्यर्थ हैं । क्योंकि अध्ययनादिजन्य फल विनाशवान् है ( यह कहनेसे विरक्ति आलम्बन विभाव कहा । वेदाध्ययनसे वेदान्तश्रवण उद्दीपन कहा । शास्त्रका परिचय कहनेसे उद्दीपनान्तर कहा । पुराणश्रवण किया यह कहनेसे वैराग्यदृढताप्रतिपादनके निमित्त नियतकालिकताफलविषयक अस्त्रियमें बीज कहा ) इसमें दृष्टान्त कहते हैं कि मृत्तिकाको बरोबर की और खनन भी की और बहुत जलसे संच भी दी यह सम्पूर्ण निष्फल है यदि क्यारीमें बीजको नहीं पटकै तो ( यह कहनेसे मतिरूप व्यभिचारभाव कहा ) ।

इति श्रीसतरङ्गीभाषाटीकायां रसनिरूपणं नाम सप्तमस्तरङ्गः ॥ ७ ॥

## अष्टमस्तरंगः C.

स्थायिभावजा हृष्टिरृष्टिः । स्निग्धा, हृष्टा, दीना, कुद्धा,  
दृष्टा, भीता, जुगुप्सिता, विस्मिता चेति । व्यभिचारिभा-  
वजा हृष्टिर्विशतिधा—शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जिता,  
शंकिता, मुकुला-ऽद्विमुकुला, ग्लाना, जिह्वा, कुश्चिता, वित-  
किता, अभितसा, विषण्णा, ललिता, केकरा, विकोशा,  
विभ्रान्ता, विष्णुता, त्रस्ता, मदिरा चेति । रसभेदादृष्टिः  
रस हृष्टिः—कान्ता, हास्या, करुणा, रौद्रा, वीरा, भया-  
नका, वीभत्सा, अद्भुता चेतिष्टद्विंशद्वेदा हृष्टयः ।  
कुणिता, विकसिताऽद्विकसिता, चकिता, सुता, घृणिता-  
ऽलसा, विवर्तिता-ऽद्विवर्तिता, पर्यस्ता, शून्या, स्तिमिता  
चेत्यादयो हृष्टिभेदा ऊहनीयाः ।

हृष्टि तीन प्रकारकी है—एक स्थायिभावजा, दूसरी व्यभिचारिभावजा और तीसरी  
रसजा, ये हृष्टि संगीतशास्त्राऽनुसार हैं । इस हेतु स्थायिभावभेदसे नियत है भेद  
जिसका ऐसी हृष्टि कहते हैं “विभावजा” इत्यादि वाक्यसे । स्निग्धादिस्था-  
यिभावजा हृष्टि आठ प्रकारकी है, और शून्यादि व्यभिचारिभावजा हृष्टि वीस  
प्रकारकी है । यद्यपि व्यभिचारिभावके तेर्विंश भेद कहे हैं, तजन्य हृष्टि वीस प्रका-  
रकी कही, इस हृष्टिका यथायोग्य विनियोग नहीं हो सकैगा तथाऽपि उस विंश-  
तिप्रकारकी हृष्टिका त्रयस्त्रिंशत् व्यभिचारिभावोंमें जिस प्रकार विनियोग होता है  
सो संगीतशास्त्रमें प्रतिपादित है सो यहां अत्यन्त उपयुक्त नहीं है इस हेतु दिङ्ग-  
मात्र प्रदर्शन करते हैं, जिस तरह ग्लानहृष्टि ग्लानि और अपस्मार दोनोंमें है ।  
विकोशा हृष्टि मति, गर्व, स्मृति और उग्रता चारोंमें है । और विष्णुता उन्माद,  
दैन्य, दोनोंमें है । यह बात और जगह विस्तारपूर्वक है । और रसभेदसे नियत है  
भेद जिसका ऐसी रसहृष्टि शान्तादिभेदोंसे आठ प्रकारकी है और मतान्तरमें  
कुणिता आदिक भी हृष्टिभेद कहे हैं उनका भी ऊह कर लेना ।  
इस रीतिसे खीपुरुषोंकी प्रकृतितथा अवस्थाके भेदसे भी हृष्टिभेदहैं परन्तु इस प्रकारके  
भेदको आप आपको अनुभवमात्रसे वेद्यता है इसमें सबका संवाद नहीं है और  
ये भेद अनन्त हैं इससे इन भेदोंको नहीं कहा । संगीतशास्त्रप्रसिद्ध जो हृष्टि  
विशेष लक्षण है उसके अनुसार हृष्टिविशेषका उदाहरण कहना चाहिये परन्तु तहां

तत्र ललिता यथा-

मनसिजनृपतिर्वा मण्डनं वा मदो वा

शशिमुखि भवनं वा यौवनं वा वयं वा ।

अखिलमपि कृतार्थं वीचिविक्षेपखेल-

तक्षमलविजयलीलाशालिना लोचनेन ॥ १ ॥

ग्लाना यथा-

पर्यस्तालकरोचिषः श्रमजुषः प्रस्पन्दगण्डत्विषः

शम्भौ शीकरशीतलेन शशिना वातं समातन्वति ।

जीयास्तामचलाऽधिराजदुहितुर्निःस्पन्दनीलोत्पल-

च्छायानिद्रितचञ्चरीकमिथुनस्पद्धासमृद्धे दृशौ ॥ २ ॥

विस्तारभयसे दिङ्गमात्रको आवेदन करनेके हेतु अशोक वनिकान्यायसे ललिताका उदाहरण कहते हैं “मनसिज” इत्यादि श्लोकसे । क्षोकार्थ यह है कि हे चन्द्रमुखि ! कामदेव वा अलंकरण वा मद वा भवन वा यौवन वा हम ये सम्पूर्णभी तेरे नेत्रसे अभिलषितार्थप्राप्तिसे कृतार्थ होते हैं । कैसा है लोचन सो कहते हैं कि लहरका जो इकट्ठा होना उससे चञ्चल जो कमल उसका विषय है फल जिसका ऐसी जो लीला अर्थात् शोभाविशेष उससे युक्त ऐसा । ललिताका लक्षण शास्त्रमें यह कहा है कि “सभूक्षेपस्मितापांगा कुञ्चिता मधुरोन्मुखी । ललिता ललने प्रोक्ता दृष्टिर्मन्मयतारका ॥ ” सो जानना ।

इसही रीतिसे ग्लानाका उदाहरण कहते हैं “पर्यस्त” इत्यादि श्लोकसे । ग्लानाका लक्षण विनियोगपुरासर संगीतशास्त्रमें कहाहै कि “अन्तर्निविष्टतारा या मलिना मन्दचारिणी । विश्लथभूपक्षमपुटा ग्लानां ग्लानौ नियोजयेत्” सो जानना । उदाहरणश्लोकार्थ यह है कि पर्वतोंमें श्रेष्ठ जो हिमालय उसकी पुत्री पार्वतीकी भूपुटसे ढकी हुई है कनीनिका जिसमें ऐसी दृष्टि सर्वोत्कर्षसे स्थित होवो । कैसी है दृष्टि कि निश्चल जो नील कमल उसकी छायामें निद्रित जो भ्रमरयुगल उसकी स्पद्धासे समृद्ध अर्थात् बढ़ी ऐसी । क्या होत सन्ते सो कहतेहैं कि महादेव जो हैं सा जलकणसे ठण्डा किया हुआ जो चन्द्रमा अर्थात् चन्द्राकार व्यजन उससे पवन करत सन्ते । कैसी है पार्वती कि विखरता हुआ जो केशपाश उससे है कान्ति जिसकी ऐसी और श्रम अर्थात् विपरीतरतिगर्भादिप्रयुक्त जो श्रम उससे युक्त और अतिशयितकम्पशालिनी जो कपोलशोभा उससे युक्त ऐसी । यह दिङ्गमात्र दिखा दिया है और भी उदाहरणोंका ऊह करलेना ।

एवमन्या अप्युदाहरणीयाः । अथ रसानां जन्यजनकभावः  
तत्र भरतः—

शृङ्गारात् भवेद्वास्यो रौद्राच्च करुणो मतः ।

वीरगत्स्यादद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥ ३ ॥

अयमुत्सर्गः, परेषामपि रसानां कार्यकारणभावदर्शनात् ।

पूर्वग्रन्थकारसम्मतिरपि—

कथासंग्रहयोगाच्च विवक्षावशतः कवेः ।

अन्योऽन्यं जन्यजनका रसभावा भवन्त्यमी ॥ ४ ॥

यथा—

मातुर्दृष्ट्वा दृग्मधोरुहयुगलगलद्राष्पधारामुदारां

तातस्य प्रेक्ष्य वक्षः स्थलस्थिरचयं कुध्यता भार्गवेण ।

हस्ते न्यस्तः सहस्रार्जुनदमनसमारम्भगम्भीरवीर्य—

स्फूर्जदोर्वल्लिहल्लीसकसकलकलासूत्रधारः कुठारः ॥ ५ ॥

अत्र वीरम्प्रति करुणबीभत्सयोः कारणता । यथा वा

तातचरणानाम्—

अब प्रसंगसे रसोंका कार्यकारणभाव कहते हैं । तहाँ भरतसम्मति दिखाते हैं “शृङ्गारात्” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि शृङ्गारसे हास्यकी और रौद्रसे करुणकी, वीरसे अद्भुतकी, वीभत्ससे भयानककी उत्पत्ति होती है, यह भी दिक्षुप्रदर्शन है । और और रसोंके भी कार्यकारणभाव दिखते हैं । यहाँ प्राचीन ग्रन्थकारोंकी सम्मति दिखाते हैं “कथा” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि वर्णनीय कथामें जो संग्रह अर्थात् सन्दर्भविशेष उसका जो योग अर्थात् संघटन उससे और कविकी विवक्षासे रस और भाव अथवा रसके जो स्थायिभाव सो परस्पर जन्यजनक होते हैं । इस प्रकरणमें रसशब्दसे इस श्लोकको त्यागकरिकै सर्वत्र स्थायिभाव समझना । मुख्य रसको अखण्डानन्दरूपता होनेसे जन्यजनकभाव नहीं बन सकता है इस श्लोकमें भी प्रथम पक्षमें रसशब्दसे स्थायिभाव ही लेना ॥

इसका उदाहरण “मातुर्दृष्ट्वा” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि माता जो रेणुका उसकी जो दृष्टि सो ही हुआ कमलयुगल

कुरंगाक्ष्या वेणीं सुभग विपरीते रतविधा-  
 वधिस्कन्धं हृद्वा किमपि निपतन्तीमरिभटः ।  
 अधिग्रीवं युष्मत्प्रचलकरवालव्यतिकरं  
 स्मरन्नैव स्तब्धो विरमति परीरम्भणरसात् ॥ ६ ॥  
 अत्र भयानकम्प्रति शृंगारस्य कारणता । यथा वा-  
 युधि कुपितकृतान्तस्यन्दनस्पद्धिनां  
 दिशिदिशि दशकण्ठस्त्यक्तवान्वारिदास्त्रम् ।  
 तडिति जनकपुञ्च्याः साम्यमालोकमान--  
 स्त्यजति न पवनास्त्रं राघवः स्वन्नपाणिः ॥ ७ ॥  
 अत्र शृङ्गारम्प्रति वीरस्य कारणता । एतेषामङ्गाङ्गिभावा-  
 पन्नानां रससङ्कर इति नाम लोका लपन्ति । रसानां  
 मिथो विरोधोऽपि । तत्र भरतः-

उससे पडती हुई जो उदार अर्थात् बहुत वाष्पवारा उसको देखकरिकै, और  
 पिता जो जमदग्नि उनका वक्षःस्थलसम्बन्धी जो रुधिरचय उसको देखकरिकै  
 क्रोधयुक्त जो परशुराम उसने सहस्रार्जुनके खण्डनोद्योगसे गम्भीर जो वीर्य उससे  
 शोभायमान जो बाहुलता तत्सम्बन्धी जो हल्लीसक अर्थात् नृत्य उसकी सकल-  
 कलाओंका जो कौशल उसका सूत्रधार अर्थात् प्रवर्तक आचार्य जो कुठार सो  
 हाथमें लिया । यहां वीररसके प्रति रेणुकाविषय कहुणा और तातसम्बन्धी  
 वीभत्स दोनोंको कारणता है ।

इस प्रकरणमें पितृकृत इलोक उदाहरणान्तर कहते हैं “कुरंगाक्ष्या” इत्यादि  
 इलोकसे । इलोकार्थ यह है कि हे सुभग ! आपका जो अरिभट अर्थात् शत्रुघूत योद्धा  
 सो विपरीत सुरतविधिमें स्फून्ध्यमें कोई भागसे कुछ पडती हुई जो हरिणनयनाकी  
 वेणी उसको देखकरिकै ग्रीवामें आपका जो प्रकम्पनशाली खड़ उसके संबन्धको  
 स्मरण करता हुआ अर्थात् स्मरण समकालमें ही स्तब्ध होत सन्ते आलिंगन-  
 सम्बन्धसे विरामको प्राप्त होताहै । यहां भयानक रसके प्रति शृंगार रसको कार-  
 णता है । अब कविविवक्षावैचित्र्य दिखानेके निमित्त प्रकारान्तरसे उदाहरणा-  
 न्तर कहते हैं “युधि कुपित” इत्यादि छोकसे । इलोकार्थ यह है कि दशकण्ठ  
 अर्थात् रावण जो है सो युद्धमें कोपयुक्त जो यमराज उसका जो स्यन्दन उसकी

शृङ्गारवीभत्सरसौ तथा वीरभयानकौ ।

रौद्राद्धुतौ तथा हास्यकहणौ वैरिणो मिथः ॥ ८ ॥

वैरिरस इव वैरिरसस्य विभावाऽनुभावव्यभिचारिभावाः ।  
अपि रसहानिकरा इति तानपि वारयेत् । तत्र प्राचीन-  
सम्मतिः—

न च वैरिरसं ब्रूयाद्वैरिणो न विभावकम् ।

नाऽनुभावं न सञ्चारिभावं चाऽपि कदाचन ॥ ९ ॥

स्पष्ट्वाकरनेवाला ऐसा है नाद जिसमें ऐसा जो मेवाख्य उसको दिशा दिशामें छोड़ता भया, उस समयमें मेवाख्यमें जो विजलीकी चमक उसमें सीताकी समानताको देखता हुआ और इस ही हेतु खिन्न है हाथ जिसका ऐसा जो राम सो पवनाख्यको नहीं छोड़ता भया । यहां शृंगारके प्रति वीरको कारणताहै । यह जो अंगांगिभावको प्राप्त उक्त प्रकारके अविरुद्ध रस उनका जो एकस्थानमें समावेश उसको लोक रससंकर कहते हैं । जिस प्रकार अनेक अलंकारोंकी प्राप्ति होनेसे प्रभाविशेष होनेसे भिन्न व्यवहार होजाताहै तिस ही प्रकार अनेक रस-मेलनसे चमत्कारातिशय होनेसे भिन्नव्यवहारविषयता रसमें होती है, ऐसा हुआ तो अंगत्वप्रकारसे भासमान जो स्वस्थायीतरस्थायी सो है जिसमें उसको रस-संकर कहते हैं । रसोंका परस्पर विरोध भी होताहै । जहां परस्पर विरोध होताहै तहां रसशब्दव्यवहार होताहै सो जानना ॥

विरोध दो प्रकारका है—एक तो यह कि एक रसके अधिकरणमें दूसरे रसकी स्थिति न होय, दूसरा यह कि एक रसके ज्ञानसे दूसरे रसका ज्ञान रुक जाय । इसमें प्रमाण भरतवाक्य कहतेहैं “ शृङ्गार ” इत्यादिसे । वाक्यार्थ यह है कि शृंगार और वीभत्स ये दोनों रस और वीर, भयानक ये दोनों रस और रौद्र, अद्धुत ये दोनों रस और हास्य, करुण ये दोनों रस, परस्पर विरोधी हैं । इस रसके विरोध प्रसंगमें यह कहतेहैं कि वैरिरसकी तरह वैरिरसके विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव जे हैं ते भी रसहानि करनेवाले हैं इस हेतु काव्यमें वैरि रसके विभावाऽनुभावोंका भी वारण करना चाहिये इसमें प्राचीनसंमति भी कहते हैं “ न च ” इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि एक काव्यमें वैरिरसका प्रयोग नहीं करना और वैरिरसके विभाव, अनुभाव, सञ्चारिभावोंका भी प्रयोग नहीं करना । जहां रसको अंगांगिभव होताहै तहां तो विरोध होता ही नहीं है किन्तु अगांगिभावको अप्राप्त जो दो रस

किन्त्वङ्गांगिभावाऽनापन्नयोरेकदेशे सति वैरम् । देशभेदे  
सति न वैरम् । वृक्षे कपिसंयोगतदभावयोरिव । समय-  
भेदे सत्यपि न वैरम्, भूतले घटतदभावयोरिव । वैरं यथा-  
प्रियेणालिङ्गंयमानायाः प्रियायाः कुचकुम्भयोः ।

करजक्षतनिर्मुक्तं रुधिरं कुङ्गमायते ॥ १० ॥

देशभेदे सति विरोधाभावो यथा-

एकः सिन्धुभुवः करे विलुलितश्चके द्वितीयः स्थितः  
कामध्वंसिनि कालकूटकवलक्षिष्टे तृतीयो धृतः ।

भूयः क्षीरनिधेर्घनप्रमथने सक्तश्चतुर्थस्तथा

पायासुः कमलापतेर्भगवतो नानारसाः पाणयः ॥ ११ ॥

अत्र शृङ्गाररौद्रकरुणाऽद्गुतानां रसानां विरोधाभावः ।

उनको एक अधिकरण होनेसे वैर होता है, अधिकरणभेद होनेसे प्रथम विरोध नहीं होता है अर्थात् एक रसके अधिकरणमें दूनरे रसकी स्थिति न होना यह जो विरोध सो नहीं हो सकता है, जैसे वृक्षमें कपिसंयोग और कपिसंयोगभाव इन दोनोंको मूल शाखारूप अधिकरणभेदसे विरोध नहीं होता है इसही तरह यहां भी जानना । समयभेद होत सन्ते भी विरोध नहीं होता है जिस तरह पृथिवीमें कोई समयमें घटकी प्रतीति कोई समयमें घटाभावकी प्रतीति होती है तदां विरोध नहीं होता है तिस तरह यहां भी जानना ।

देश कालकी एकता होनेसे जो दोनों प्रकारका विरोध होता है उसका उदाहरण “प्रियेण” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि प्रियसे आलिंगित ऐसी जो प्रिया उसके कुम्भसद्वश कुचोंमें नखक्षतसे उत्पन्न जो रुधिर सो कुंकुमवत् आचरण करता है । अब देशभेद होत सन्ते विरोधाभावका उदाहरण “एकः” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि लक्ष्मीकान्त भगवान्के जो नाना रस अर्थात् तत्त्वद्रसयुक्त हस्त सो हमारी रक्षा करो । कैसे हैं हस्त कि एक हस्त तो लक्ष्मीके हस्तपर चञ्चल होत सन्ते स्यापित है और दूसरा हस्त चक्रमें स्थित है और तीसरा जो हस्त सो विषपानसे क्लेशयुक्त जो कामध्वंसी अर्थात् शिव उनपर धृत है और चतुर्थ हस्त इतरप्रयत्नानिष्पन्न समुद्रके घन प्रमथनमें सक्त है । ‘भूयः’ पद यहां

समयभेदेन यथा--

भग्नं कामरिपोर्धनुः परिहृतं राज्यं स्थितं कानने  
 निर्भिन्नस्त्रिशिराः खरस्य पिशितं स्पृष्टं कपिलालितः ।  
 लंकेशो दलितश्चिराय रुदितं लंकावधूनां श्रुतं  
 नीता सद्ग विदेहभूस्तदखिलं रामस्य लोकोत्तरम् ॥ १२ ॥  
 अत्राद्गुतशान्तभयानकरौद्रबीभत्सहास्यवीरकरुणशृङ्गारा-  
 णां विरोधाभावः । अंगांगिभावानापनानां रसानां निवेशो  
 यत्र स रसशब्दल इति वेदितव्यम् । तस्याऽप्येतदेवोदाहर-  
 णम् । अंगयोवैरेऽपि न रसहानिर्भटयोवैरे प्रभोरिव । यथा-  
 सीतां संस्मर्य वीचिप्रचलकुवलयस्पद्धिचक्षुः क्षिपन्तीं  
 सेनां संवीक्ष्य रक्षःशरदलितवपुःशोणितासारसिक्ताम् ।

वाक्यालङ्कारमें है । यहां शृंगार, रौद्र, करुण और अद्गुत इन रसोंको एकाधिकरण भगवान्‌में स्थित होनेसे प्राप्त जो विरोध उसका भी नानाद्वारा अवच्छेदकभेदसे निवारण है सो जानना ॥

अब समयभेदसे विरोधाभावका उदाहरण “भग्नम्” इत्यादि श्लोकरो कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि कामरिपु जो महादेव उनके धनुषको तोड़ा, और राज्यको त्याग किया, और वनमें निवास किया, और त्रिशिराको मारा, और खरके पिशितको स्पर्श किया, और कपिको लालित किया, और रावणका दलन किया, और बहुत कालतक लंकास्थित स्त्रियोंका रोदन सुना, और जानकीको घरमें प्राप्त किया यह संपूर्ण कृत्यरामके लोकोत्तर हैं । यहां अद्गुत, शान्त, भयानक, रौद्र, बीभत्स, हास्य, वीर, करुण और शृंगार इन रसोंको कालभेदसे विरोधका अभाव है । इसका अभिपाय यह है कि विरुद्ध भी दो रस होंय तो भी एक रसकी चर्वणामें व्यवहित द्वितीय रसकी चर्वणा होय तहां द्वितीय विरोय भी नहीं है सो जानना । जहां अंगांगिभावको अप्राप्त अर्थात् विरुद्ध रसोंका निवेश होय तहां रसशब्दल होताहै सो जानना । उसका भी यही उदाहरण है अर्थात् “भग्नम्” इत्यादि श्लोक द्वी उसका उदाहरण है । कालभेदसे पूर्व पूर्वका उत्तरद यहां होताहै सो जानना । दो अंगोंको वैर भी रहे तो वहां भी रसहानि नहीं होती है, जिस तरह दो भट्ठोंका विरोध भी रहे तो राजाकी हानि नहीं होती है तिसदी तरह यहां भी जानना । इसका उदाहरण “सीताम्” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ

रामेण कोधट्यदशमुखनिपतन्मुण्डलाभप्रमोद-  
क्रीडत्कालीकरालभुकुटिसहचरी सन्दधे चापयष्टिः ॥ १३ ॥  
अत्र शृंगारबीभत्सयोर्विरोधेऽपि न रसहानिः ।  
एवमङ्गाङ्गिभावापत्रयोर्विरोधिनोरेकत्र भावेऽपि न रस-  
हानिः । यथा-

भौजंगमं गिरिमयं जलदात्मकं वा  
शस्त्रं यदेव मुमुचे दशकन्धरेण ।  
सर्वं विदेहतनयाविरहाकुलेन

रामेण वह्निमयशस्त्रमिव व्यलोकि ॥ १४ ॥

ननु बीभत्सशृङ्गारयोः सहजवैरं कुतो मधु निपीय निष्ठी-  
वतोः सम्भोगदर्शनादिति चेत् । सत्यम्, बीभत्सस्य जुगुप्सा-  
स्थायिभावः । सा च तदर्शनेन तटस्थस्य भवति न तु तयोः  
रागोत्कटचादिति । ननु तथाऽपि बीभत्से रागो दृश्यते ।  
तथाहि-

यह है कि रामने बीचि अर्थात् लहरीसे चलायमान जो कुवलय उसकी स्पर्धा करनेवाला अर्थात् चश्चल जो नेत्र उसको चलानेवाली सीताको स्मरणकरिकै और राक्षसके बाणोंसे विदारित जो शरीर उससे जो शोणित उसकी धाराके पतनसे सिंक ऐसी सेनाको देखकरिकै कोधसे अर्थात् तत्त्कार्यादिके अविवेकसे दर्पयुक्त जो रावण उसका पतित जो मुण्ड उसके लाभसे जो हर्ष उससे कीड़ा करती हुई कालीकी कराल भुकुटी कौटिल्य और मरणकारणतासे उसकी सहचरी जो चापयष्टि सो धारण की । यहां अंगभूत शृगार और बीभत्सरसोंको विरोध भी है तो भी रसहानि नहीं हुई । इसही प्रकारसे अंगांगिभावको प्राप्त जो दो विरोधी रस उनकी एकत्र स्थिति होनेसे भी रसहानि नहीं होती है ।

इसका उदाहरण “भौजङ्गम्” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि रावणने नागपाश अथवा पर्वतास्त्र अथवा मेघास्त्र इत्यादि जो २ शस्त्र चलाया सो सब शस्त्र जानकीके विरहसे व्याकुल ऐसे रामचन्द्रने अग्रिमयशस्त्रवत् देखा । यहां भयानकमें वीरको अंगता होनेसे रसहानि नहीं हुई । यहां यह शंका होती है कि बीभत्स और शृंगार इन दोनोंको स्वाभाविक वैर किसप्रकार होगा क्योंकि

यदपि हृदि विशाला मुण्डमाला न पाणि-  
स्त्यजति नरकपालं रौरवं चर्म चैलम् ।

तदपि गिरिसुतायाः पक्षपातः पुरारौ  
समुदयति विचित्रः कामिनोः प्रेमबन्धः ॥ १५ ॥

इत्यादाविति चेत् । सत्यम् निजभर्तुरधमेऽपि भूषणे भक्तय-  
तिशयेन पत्न्यास्तत्र जुगुप्सैव नावतरति । जुगुप्सितत्वेन  
प्रतीयमानमेव हि जुगुप्सोत्पादकं भवति । किञ्च, प्रियसम्ब-  
न्धोपाधिकमधिकं तत्र प्रेमैवोत्पद्यते तस्मात्स्थायिभावा-  
भावाद्वीभत्सस्तत्र न जायत इति ॥

ननु वीरस्य युधि गच्छतः सर्पस्पर्शे चकितता दृश्यते,

मधुपान कारिकै थूँकते हुए कान्तकान्ताओंका सम्भोग देखते हैं तो वहां वीभत्स  
व शृंगार दोनोंकी स्थिति हुई । इसका समाधान यह है कि वीभत्सका स्थायी  
जुगुप्सा है सो जुगुप्सा थूँकना देखकारिकै तटस्थको होती है उन दोनोंको उत्कट  
राग होनेसे जुगुप्सा नहीं होती है, तो वहां वीभत्सकी स्थिति नहीं है । किर यह  
शंका होती है कि आश्रयभेदसे वीभत्स व शृंगारके विरोधका उस स्थलमें वारण  
किया तो भी वीभत्स होतसन्ते शृंगार देखते हैं सो 'यदपि' इत्यादि श्लोकसे कहते हैं।  
श्लोकार्थ यह है कि यद्यपि शिवके हृदयमें विशाल मुण्डमाला है । और हस्त मनु-  
ष्यके कपालका त्याग नहीं करता है । और मृगका जो चर्म सो वस्त्र है तथापि  
पार्वतीका महादेवमें जो पक्षपात अर्थात् प्रेमातिशय सो उदयको प्राप्त होता है । इसही  
हेतु कामी व कामिनी इन दोनोंका जो प्रेमसम्बन्ध सो विचित्र अर्थात् प्रतिबंधकसे  
भी नहीं निवृत्त होता है यह जानते हैं इत्यादिमें वीभत्समें भी शृंगार देखते हैं ।  
इसका समाधान यह है कि आपके स्वामीको अधम भूषणम् भी भक्त्यतिशयसे  
खीको जुगुप्सा ही नहीं उत्पन्न होती है क्यों कि जुगुप्सिततासे जो प्रतीयमान  
होताहै सो ही जुगुप्साका उत्पादक होताहै । यहां तो स्वामीमें जैसे उत्कट राग  
होताहै तैसे उनके भूषणमें भी उत्कट राग होनेसे जुगुप्सा उत्पन्न नहीं होती है ।  
और सुनो कि प्रियकी संबंधरूप उपाधिसे उस भूषणमें अधिक प्रेमही उत्पन्न होताहै  
इसहेतु भर्ताके भूषण जुगुप्साव्यञ्जकका अभाव होनेसे वीभत्स वहां नहीं होताहै ॥

रौद्रे चाकस्मिकोत्पातातिपाते विस्मय इति चेत् । चकितता विस्मयश्च तत्र रसावेशान्न भवत्येव, सति वा विषयभेदः । वीरस्य न प्रतिभटाद्धयं किन्तु भुजंगमात् । रौद्रे च न प्रति-भटबलाधिक्ये विस्मयः किन्तृत्पाते । रसवैरस्योत्पादक-मखिलमवधेयम् । तत्र पूर्वाचार्याः—

अन्यच्च रसवैरस्योत्पादकं वचनन्तथा ।

न वाच्यं रसभावज्ञैर्नात्यशास्त्रविशारदैः ॥ १६ ॥

वचनमित्युपलक्षणम् । एवं विभावाऽनुभावेष्वपि द्रष्टव्यम् । यथा—

फिर यह शंका होती है कि युद्धमें जानेवाले वीरको सर्पस्पर्श होतसन्ते चकितता देखते हैं । और रौद्रमें आकस्मिक उत्पातका अतिपात होनेसे विस्मय देखते हैं । यह कहनेका अभिपाय यह है कि वीर और भयानक इन दोनोंको विरोध नहीं होसकता है और रौद्र व अद्भुत इन दोनोंको विरोध नहीं होसकता है । इसका समाधान यह है कि वीरको सर्पस्पर्शमें चकितता और रौद्रमें उत्पातमें विस्मय ये रसावेशसे नहीं ही होते हैं यदि कदाचित् होते हैं तो विषयभेदसे होते हैं क्योंकि वीरको प्रतिभटसे भय नहीं होता है किन्तु सर्पसे होता है और रौद्रमें प्रतिभट बलाधिक्यसे विस्मय नहीं होता है किन्तु उत्पातसे होता है तो इनको विरोध है ही सो जानना । उक्त प्रकारसे आविरोध संपादनकरिके निषिद्धचमान भी रस रसशब्दसे अथवा शृंगारादि शब्दसे कहनेके योग्य नहीं है क्योंकि ऐसे कहनेमें रसको आस्वाद्यता नहीं रहती है उसके आस्वादमें व्यञ्जनामात्रनिष्पाद्यता सर्वसंमत है कदाचित् यह कहो कि रसको पदवाच्यता होनेपर भी व्यञ्जना होनेमें दोष नहीं है तो यह कहना युक्त नहीं क्योंकि व्यंगको वाच्य रखनेसे वमनाख्यदोष होजाता है, इसही रीतिसे स्थायिभाव और व्यभिचारिभावोंका भी पदवाच्यता होनेमें दोष जानना । इसही रीतिसे विभाव अनुभावकी जो असम्यक् प्रतीति और विलंबसे प्रतीति और प्रतिकूल विभाव अनुभावोंकी जो प्रतीति सो दोष है अर्थात् प्रकृतरसकी हानिकारक हैं । इन दोषोंको कविजन त्याग करदें यही बात कहते हैं कि रसवैरस्यके उत्पादक जो हैं उनको जान लेना चाहिये ॥

इसमें पूर्वाचार्योंकी सम्मति कहते हैं “अन्यच्च” इत्यादि कारिकासे । कारिकार्थ यह है कि रसभावोंको जानेवाले और नाट्यशास्त्रविशारद ऐसे पुरुषोंने रसवै-

काऽहं क्व त्वं क्व मधुसमयः कुत्र वा दूतिकाऽसौ  
 मेघच्छायाप्रविचलमिदं कुत्र वा प्रेम यूनोः ।  
 आयुर्वायुप्रचलनलिनीवारिबिन्दूपमानं  
 मानं मुग्धे विसृज सकलं तुच्छमेव प्रतीमः ॥ १७ ॥

रस्यका उत्पादक सामान्यकीरकै वचन वा विशेषकरिकै वचन “न च वैरिसं ब्रूयात्” इत्यादि वाक्यसे अन्य नहीं कहना चाहिये । यहां वचनपद विरुद्ध रस-विभावादिका भी परिचय करता है । इस ही प्रकार विभावाऽनुभावोंमें भी जानलेना ।

विभावत्वरूपसे अथवा अनुभावत्वरूपसे प्रतीतिका अजनक अथवा विल-  
 मित प्रतीतिजनक वचन नहीं कहना सो अभिप्राय है । इसका उदाहरण “काहम्” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि मानवतीके प्रसाधनकी दृत्यादि-  
 द्वारा करनेमें अशक्यताको माननेवाले नायककी यह उक्ति है कि—मैं कहां, तू कहां  
 ( यहां दो जो कपद दिये सो अधिक अन्तरको वोधित करते हैं इसका अभि-  
 प्राय यह है कि हमारा तुमारा समागम काक्तालसमागम सदृश है ) और  
 वसन्तसमय कहां ( यह कहनेसे वसन्तकी भी शीघ्र निवृत्ति है यह सूचित किया )  
 और यह अर्थात् संघटनकालोचित वचनमें चतुर ऐसी दूतिका कहां ( यह कह-  
 नेसे दुम्हारा आरोपित जो अपराध सो भी अत्यन्त असम्भावित ही है यह सूचित  
 किया ) और मेघच्छायासदृश चलायमान जो यह अर्थात् स्वाभाविक दोनोंका  
 प्रेम सो कहां है ( यहां मेघच्छायाका सादृश्य कहनेसे कुछ अवश्य होनेवाला  
 है इस हेतु सदा चलनेवालेके सदृश जो हमारा दुम्हारा विवटनका कारण सो भी  
 अनिवारणीय ही है यह सूचित किया ) इदं इसपदसे यह सूचित किया कि  
 काळान्तरमें इस प्रेमका आधिक्य होत सन्ते पश्चात्तापयुक्त होगी सो जानला ।  
 और युवति युवा इनका प्रेम कहां ( यह कहनेसे प्रेमको आकस्मिकता सूचित की )

आपकी प्रार्थनाको भी विफलताकी आशंकायुक्त होकरिकै बलसे प्रवर्तनके निमित्त  
 बलवत्तर अनिष्टका प्रतिपादन “आयुः” इत्यादि वाक्यसे करते हैं कि आयु  
 जो है सो वायुसे चलायमान जो कमलिनी उसका जो जलबिन्दु तत्सदृश है  
 ( यह कहनेसे स्वभावसे नष्ट होनेवाली वस्तुकी नाशसाधनसम्पत्ति भी अनायाससे ही  
 है यह सूचित किया ) । हे मुग्धे ! अर्थात् करनेके योग्य है वा न करनेके योग्य है  
 इस विचारसे रहित ऐसी, हित उपदेशसे मानका त्याग कर ( स्वार्थपरायण जो  
 तू उसको कौन हेतुसे हितत्व होगा ऐसी शंका मत कर । इस अभिप्रायसे कहता है  
 कि ) सम्पूर्ण जगत्का स्वार्थसाधनविकल ही निवेदसे हम जानते हैं । इसका

अत्र निवेदप्रतिपादकमखिलं तच्च शृङ्गारविरोधि । अनौ-  
चित्यं सर्वथावधेयम् । तत्र प्राचीनग्रन्थः—

अनौचित्याद्यते नान्यद्रसभंगस्य कारणम् ॥

प्रसिद्धौचित्यवद्दस्तु रसहर्षय जायते ॥ १८ ॥

उद्देगकरमनौचित्यम् । लोकयात्राप्रसिद्धमौचित्यम्। तस्मा-  
द्योर्यूनोर्यत्र मिथो रतिस्तत्रैव रसः । एकस्यैव रतिश्वेद्रसा-  
भास एव । एकस्या एव रतिश्वेद्रसाभास एव । क्रमेणोदा-  
हरणम्—

सीतासमागमश्लाघाबन्धुरं दशकन्धरम् ।

प्रहर्तुं क्षमते कामो रामो वा निशितैः शरैः ॥ १९ ॥

अत्र रावणस्यैव रतिर्न तु सीतायाः ।

अभिप्राय यह है कि बलसे प्रवृत्ति होत सन्ते भी काषायवस्तुके पानमें प्रवृत्तिकी तरह कटुता है ही, और शितोपलके स्वादमें प्रवृत्तिकी तरह एकरसता नहीं है इस हेतु हीनबल जो शृंगार है सो निवेदांग जो तुच्छताप्रतीति उससे रोका जाता है । यह जो संपूर्ण प्रघटकार्थ सो भी अबाधित ही है सो जानना ।

रसका निरूपण करिकै रसाभासके निरूपणार्थ आरंभ करते हैं “अनौ-  
चित्यम्” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि रसके प्रतिकूल जो अनौचित्य सो सर्वथा विचारणीय है । तहाँ प्राचीनसंमति दिखाते हैं—“अनौ-  
चित्याद्” इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि अनौचित्य विना रस-  
भंगका कारण और नहीं है और प्रसिद्ध है औचित्य जिसमें ऐसा जो काव्य-  
बन्ध सो रसरूप आनन्दके निमित्त होताहै । “रसस्योपनिषत्परा” ऐसा भी पाठ है तहाँ यह अर्थ जानना कि उक्त जो बन्ध है सो रसका उत्कृष्ट प्रमाण है । अनौचित्य उद्देगको करनेवाला है । तहाँ औचित्य क्या है सो कहते हैं कि लोक-  
व्यवहारजन्यज्ञानविषयत्व ही औचित्य है इस हेतु दोनों युवति युवाओंकी जो परस्पर प्रीति सो जहाँ होय तहाँ ही रस है । एक नायिकहीकी रति होय तो रसाभास ही है नायिकाहीकी रति होय तो भी रसाभास ही है । तहाँ पूर्वका उदा-  
हरण कहते हैं “सीता” इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि काम अथवा राम

निधुवनवनप्रान्ते यान्तं चलैर्नयनाश्वलैः

किमिति वलितश्रीं मुग्धे मुहुर्मुहुरीक्षसे ।

विफलमस्थिलं यूनोर्नों चेदुदेति परस्परं

रतिरथ मनोजन्मा देवः स एव निषेव्यताम् ॥ २० ॥

अत्र नायिकाया एव रतिर्न तु नायकस्य । एवमेकस्या

अनेकविषया रतिराभास एव । एवमेकस्याऽप्यनेकविषया-

रतिराभास एव । परन्तवेष विशेषः, यस्य व्यवस्थिता

बहुचो नायिका भवन्ति तत्र न रसाभासस्तथा सति कृष्णस्य

जो हैं सो ही सीतासमागमयोग्यतासिद्धिके निमित्त नम्रीभूत रावणको तीक्ष्ण-  
बाणोंसे अथवा पुष्पसे प्रहारयुक्त करनेको समर्थ होते हैं । यहाँ रावणही की रति  
है सीताकी नहीं है ॥

अब नायिकामात्ररतिप्रयुक्त रसाभासका उदाहरण “निधुवन” इत्यादि  
इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि हे मुग्धे ! सुरतप्रधानवनसमीपमें जाते हुए  
युवाको लज्जासे चश्चल जो नेत्रपक्षम उनसे वलित है श्रीवा जिस क्रियामें जैसे  
होय तैसे क्या उद्देश करिके बारम्बार देखती है ? यदि युवति युवाकी परस्पर प्रीति  
नहीं उद्दित होय तो सम्पूर्ण वीक्षणादि निष्फल है । अथ कहिये पक्षान्तर कहते हैं  
कि दोनोंको अनुराग होय तो वह जो ईक्षणादिका उद्देश्य मनोजन्मा देव अर्थात्  
काम ही सेवित करिये फिर वीक्षणादिकी क्या गणना करती है ? अभिप्राय यह है  
कि जो पुरुषको अनुराग होवे तो स्वतः पुरुषकी प्रवृत्ति होजायगी, यदि अनुराग  
नहीं होवे तो वीक्षणकी व्यर्थता युक्त ही है सो जानना । यहाँ नायिकाकी ही रति  
है नायककी नहीं है । इसही प्रकार नायिकाकी अनेक नायकोंमें रति जहाँ होय  
तहाँ भी आभास ही जानना इसही प्रकार नायककी अनेकनायिकाओंमें रति होय  
तो वह भी आभास ही है परन्तु नायकमें यह विशेष है कि जिस नायकको बहुत  
भी नायिका व्यवस्थित हैं तहाँ अनौचित्यके अभावसे आभासत्व नहीं है यदि वहाँ  
भी रसाभास मानो तो सकलनायकोत्तम कृष्णकी अनेककामिनीविषयिणी रतिको  
आभासतापत्ति होगी इस हेतु अव्यवस्थितबहुकामिनीविषयिणी रति जहाँ होय  
और वैषयिक नायककी प्रीति और बहुनायकविषयक प्रीति इन स्थलोंमें रसा-  
भास जानना, इस ही हेतु वैषयिककी और वेश्याकी जो प्रीति सो रसाभास है  
यह प्राचीनोंका मत है सो जानना ॥

सकलोत्तमनायकस्य बहुकामिनीविषयाया रतेराभासता-  
पत्तेः । तस्मादव्यवस्थितबहुकामिनीवैषयिकबहुनायक-  
परमेतत्, अत एव वैषयिकानां वेश्यानां च रसाभास इति  
प्राचीनमतम् । एकस्या अनेकविषया रतिर्यथा—  
संपत्कस्याऽद्य तारा भवति तरलिता यत्पुरो नेत्रतारा  
दृष्टा केनाऽद्य काञ्ची यदभिमुखगता वेपते रत्नकाञ्ची ।  
उग्रः कस्याऽद्य तुष्टः सखि यदनुगमे कश्चिदुग्रोऽभिलाषः  
स्नातं केनाऽद्य वेणीपयसि विलुलिता यत्कृते काऽपि वेणी ॥२  
अत्र किमो बाहुरूपेन वेश्यात्वम् ।  
एकस्यानेकनायिकाविषया रतिर्यथा—  
पञ्चेषुक्षितिप्रतापलहरी प्रीतिस्त्वदीया पुनः  
कासां वा स्तनकाञ्चनाञ्चलतटे काश्मीरपंकायते ।  
कासां मूर्धनि नैव नीरजदृशां सिन्दूररेखायते  
कासां वान च कर्णयोः प्रियसखे माणिक्यभूषायते ॥ २२ ॥

जहां नायिकाको अनेक नायकविषयक रति है तहां रसाभासका उदाहरण “सम्यक्” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि हे सखि! जिसके आगे नेत्रतारा जो है सो अभिलाषसहित शोभित होती है वह कौन है? जिसकी सम्पत्ति तारारूपतासे परिणमित अर्थात् फलित होती है । और जिसके सम्मुखमें प्राप्त हुई रत्नकाञ्ची हर्षोद्घमसे कम्पित होती है वह कौन है जिसने आज काञ्चीपुरीको देखी है । और जिसके पिछाड़ी चलनेमें विशेषतासे कहा न जाय और उग्र कहिये अधिक अभिलाष है वह कौन है जिसपर आज सदाशिव तुष्ट हैं । और जिसके अर्थ विलक्षण जो वेणी सो कम्पसे विश्वर रही है वह कौन है? जिसने आज त्रिवेणी के जलमें स्थान किया है । यहां पष्ठचन्त जो दो किंशब्द और तृतीयान्त जो दो किंशब्द हैं सो अनेक नायकों विना अनुपपत्र होकर नायकोंको अनेकत्व सूचित करते हैं, इससे उदाहरण संगत होगया ।

अब एककी अनेकनायिकाविषयक रतिका उदाहरण “पञ्चेषु” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि नायिकाको लोभ करानेवाला जो नायकका

अत्राऽपि वैष्यिकता प्राग्वदेव । यत्र रसा बहवः स रसश-  
बलः । यत्र भावा बहवः स भावशबलः । तत्र रसशबलो  
दर्शितः । भावशबलो यथा—  
प्रवज्ज्यैव शुभाय मे श्रुतिपथं जायेत तस्या वच—  
शक्राग्रे मम कः स्मरस्त्रिजगती शून्या विना राधया ।

नर्मसचिव उसके प्रति यह उक्ति है कि हे प्रिय ! अर्थात् हे अभिलषितार्थपरायण ! और हे सखे ! अर्थात् प्रतारणाके अयोग्य ! पौँच हैं बाण जिसके ऐसा जो राजा कामदेव उसकी जो प्रतापलहरी अर्थात् प्रतापोज्जम्भण तद्रूप ऐसी जो प्रकृत पुरुषकी प्रीति सो कौन स्त्रियोंके स्तनरूप काञ्चनपर्वतोंके तटमें काझमीरपंकवत् आचरण नहीं करती है ? और कौन कमलनयनाओंके मस्तकमें सिन्दूररेखावत् आचरण नहीं करती है ? और कौनके दोनों कानोंमें मणिरचित् भूषणवत् आचरण नहीं करती है ? अपि तु सम्पूर्ण स्त्रियोंमै तत्त्वकार्यसे उसकी प्रीति व्यक्त ही है । यहां सुलभतार्थक प्रवकारके प्रयोगसे और दो तीन बार किंशब्दके प्रयोगसे अनेक नायिका विषयक रति सूचित होती है सो जानना । यहां यह जानना चाहिये कि कलहशील जो कुपुत्रादि तदालम्बनतासे और वीतरागद्यालम्बनतासे वर्ण्यमान शोक, और ब्रह्मविद्यानविधिकारिचाण्डालादिगत निर्वेद, और कर्द्य कातरादिगत क्रोध, और पित्राद्यालम्बनक उत्साह और ऐन्द्रजालिकाद्यालम्बनक विस्मय, मुर्वाद्यालम्बनक हास, महावीरादिगत भय, यज्ञीयपशुमांसालम्बनक जुगुप्सा ऐसे वर्णनमें रसाभास जानना और भावाभासमें भी यही रीति जाननी ॥

रसशबलदृष्टान्तसे भावशबल कहनेके अर्थ रसशबलका अनुवाद करते हैं “यत्र” इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि जहां बहुत रस होय वह रस शबल है । इसही रीतिसे जहां भाव बहुत होय तहां भावशबल कहना । यहां निर्वेद जो तेतीस और गुर्वादिविषयक रति ये भावपदार्थ हैं, इसका अभिप्राय यह है कि नारिकेलका जल और दुग्ध और बूरा और केला इनको एकात्रित करिकै भोजन करनेसे जैसे विलक्षण स्वाद होता है तैसे ही भावोंका जहां समूह है तहां भी स्वाद होताहै सो जानना ।

इन दोनोंमें रसशबलका उदाहरण तो कह ही आये हैं “तस्याप्येतदेवोदाहरणम्” इस ग्रन्थसे । और भावशबलका उदाहरण कहते हैं “प्रवज्य” इत्यादि क्षोकसे । क्षोकार्थ यह है कि कृष्णकी उक्ति है कि उस राधाका जो वचन सो यदि हमारे श्रुतिपथको

निर्मुक्तैव मनस्त्रपा मृगदृशो लावण्यमन्यादृशं  
धिगजन्म क गतासि किं विलपितैः काऽसि प्रसन्ना भव ॥२३॥  
निर्वेदौत्सुक्यामर्पभ्रममतिविषाददैन्यानां भावानां सांकर्या-  
देष भावशबल इति ।

अथ रसभावालंकाराणामभिव्यक्तिः। रसस्त्रिविधः—अभिमु-  
खोविमुखः परमुखश्चेति । व्यक्तैर्भावविभावाऽनुभावैर्यस्या-  
भिव्यक्तिः सोऽभिमुखः । भावविभावाऽनुभावानामनु-  
क्तत्वात्कष्टावगमो विमुखः । परमुखोऽपि द्विविधः—अलं-  
कारमुखो भावमुखश्च । अलंकारमुखेऽलङ्घनारो मुख्यो  
मनोविश्रामहेतुत्वाद्रसो गौणः । भावमुखे भावो मुख्यो  
मनोविश्रामहेतुत्वाद्रसो गौणः ।

प्राप्त होय तो हमको संन्यास शुभ है ( यहां प्रवज्याही शुभ है यह कहनेसे निर्वेद सूचित किया और राधाका वचन जो श्रुतिपथको प्राप्त होय यह कहनेसे औत्सुक्य- सूचित किया ) फिर कहते हैं कि हमारे चक्रके आगे कामदेव कौन है ( यह कहनेसे अनर्थ सूचित किया ) फिर कहते हैं कि तीनों जगत् राधा : विना शून्य है ( इससे भ्रमसूचित किया ) फिर कहते हैं कि मनकी जो लज्जा सो जाती ही रही ( इससे मति सूचित की ) फिर कहते हैं कि मृगनयनाका जो लावण्य है सो विलक्षण है अर्थात् अनुपम है ( इससे स्मृति सूचित की ) फिर कहते हैं कि तू अनिश्चित देशमें गई इसहीसे हमारे जन्मको धिक्कार है ( यहां अलाभ होनेसे विषाद सूचित किया ) फिर कहते हैं कि विलाप करनेसे क्या, नहीं सम्मुखमें प्राप्त ऐसी तू कहां है, प्रसन्न होजाओ अर्थात् जहां हो तहांसे आकर हमको प्रसन्न करो ( इससे दीनता सूचित की ) यहां निर्वेद, औत्सुक्य, अर्प, भ्रम, मति, विषाद और दैन्य इन भावोंका साङ्कर्य होनेसे यह भावशबल है सो जानना ॥

अब इसके उत्तर रसभाव अलंकार इनकी अभिव्यक्ति कहते हैं । भाव और अलंकार इन दोनोंकी अभिव्यक्ति दिखानेके निमित्त रसका विभाव “रसस्त्रिविधः” इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि रस तीन प्रकारका है, एक अभिमुख दूसरा विमुख, तीसरा परमुख । तीन अभिव्यक्ति जो भाव, विभाव, अनुभाव उनसे

अत्र प्राचीनसम्मतिः—

अलंकारे च रुचिरे मनोविश्रान्तिकारिणि ।

अलंकारस्य मुख्यत्वं गौणत्वं रसभावयोः ॥ २४ ॥

इति । अभिमुखाः स्वस्वप्रकरण उदाहृता एव । विमुखो यथा-

मैथिली लक्ष्मणो रामः सुश्रीवः पवनात्मजः ।

लंकापुरं परित्यज्य पारं वारिनिधेयर्युः ॥ २५ ॥

अत्र संकटमस्तिलं समुत्तीर्थेते समागता इत्यद्गुतो रसः कष्टादवम्यते । अलंकारमुखो यथा—

एषा न लेखा भ्रमतामलीनां भाति प्रभाते नवकैरविण्याः ।

आलिंगतः किन्तु तुषारभानोःकांतिःकलंकस्य वपुर्विलग्नारद्

अत्रापद्गुतेरलंकारस्य मुख्यता । भावमुखो यथा—

जिसकी अभिव्यक्ति होय वह अभिमुख है और भाव, विमाव, अनुभाव इनके कथन विना कष्टसे जहां रसका अवगम होय वह विमुख है । परमुख रस दो प्रकारका है-एक अलंकारमुख एक भावमुख । तहां अलंकारमुख रसमें अलंकार तो मनोविश्राम हेतु होनेसे प्रधान है और रस गौण है । और भावमुख रसमें मनोविश्राम हेतु होनेसे भाव तो प्रधान है और रस गौण है तहां प्राचीन संमति कहते हैं “अलंकार” इत्यादि कारिकासे । कारिकार्थ यह है कि जहां चमत्कारहेतु और मनोविश्रान्तिकारक अलंकार होय तहां अलंकार तो मुख्य है और रसभाव गौण है । अभिमुख रस आप आपके प्रकरणमें कह ही आये हैं । विमुखका उदाहरण “मैथिली” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि जानकी और लक्ष्मण और रामचन्द्र और सुश्रीव और हनुमान् ये लंकापुरको त्याग करिके समुद्रके पारको प्राप्त होते भये । यहां सम्पूर्ण संकटको तिरकीरकैये आये यह जो अद्गुत रस सो कष्टसे जानाजाता है ॥

अब अलंकारमुखका उदाहरण “एषा” इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि प्रभात समयमें नवीन कैरविणीके समीपमें यह भ्रमण करते हुए भ्रमरोंकी पंक्ति नहीं है किन्तु आलिंगन किया जिसने ऐसा जो चन्द्रमा उसकी

सत्ताम्भोनिधिनीरहीरपटलालंकारिणीं मेदिनीं  
 दातुं विप्रकुलाय योजितवतः संकल्पवाक्योद्यमम् ।  
 नाभीनीरहात्सरोरुहभुवा तत्कालमाविष्कृते  
 हस्ताम्भोरुहि भागवस्य किमपि क्रीडास्मितं पातु वः ॥२७॥  
 अत्राद्भुतभावस्य मुख्यता, दानवीररसो गौणः ॥  
 विद्वद्वारिधराः स्नेहं तथा वर्षत सन्ततम् ।  
 लभते विपुलां वृद्धिं यथा रसतरंगिणी ॥ २८ ॥  
 अवगाहस्व वाग्देवि दिव्यां रसतरंगिणीम् ।  
 अस्मत्पद्येन पद्मेन रचय श्रुतिभूषणम् ॥ २९ ॥

कलंककी कान्ति शरीरमें लगी हुई शोभित होती है यहां अपहुति अलंकार मुख्य है और शृंगार रस गौण है । अब भावमुख रसका उदाहरण “सत्ताम्भोनिधि” इत्यादि इलोकसे कहते हैं । इलोकार्थ यह है कि सातसमुद्रोंका जलरूप जो हीरकसमृह तदूप अलंकारसे युक्त जो पृथिवी उसको ब्राह्मणकुलके अर्थ देनेके निमित्त संकल्पसूचक वाक्यका उद्योग करनेवाले जो भागव उनका अतिशयित जो व्रीडास्मित अर्थात् उक्त प्रतिज्ञाका निर्वाह और प्रकृत याचककी कामनापूर्ति दोनोंके विरोधसे उत्पन्न जो लज्जातत्पूर्वक जो हास्य सो तुम्हारी रक्षा करो । क्या होत सन्ते हास्य है सो कहते हैं कि कमलसे उत्पन्न ब्रह्माने नारायणावतारमें आपके नाभिकमलसे हस्तरूप कमल प्रसारित करत सन्ते । यहां अद्भुतभाव, तो मुख्य है और दानवीर रस गौण है सो जानना ।

अब आपकी कीर्तिके अनुवर्तनकी विद्वत्परिशीलन विना दुर्घटता मानते हुए भानुमिश्र पण्डितोंसे प्रार्थना करते हैं “विद्वद्वारिधराः” इत्यादि इलोकसे । इलोकार्थ यह है कि हे पण्डितो ! वाग्मृतप्रयोक्ता विद्वान् रूप जो मेघ सो निरन्तर उस प्रकार स्नेहकी वर्षा करो कि जिस प्रकार रसतरंगिणी बहुत वृद्धिको प्राप्त होय । आपके ग्रन्थके उदाहरणोंमें परकीयत्वाशंकाका निवारण करते हुए देवता-प्रसादके अर्थ कविभारतीकी अधिष्ठात्री देवताकी प्रार्थना करते हैं “अवगाहस्व” इत्यादि इलोकसे । इलोकार्थ यह है कि हे वाग्देवि दिव्या अर्थात् निमज्जनोन्मज्जन-क्रीडादेतु जो यह गूढागूढव्यंग्ययुक्त रसतरंगिणी उसका अवगाहन करो, और

यावद्भानोः सुता काऽपि कालिन्दी भुवि वर्तते ।  
 तावत्तिष्ठतु मे भानोरेषा रसतरंगिणी ॥ ३० ॥  
 इति श्रीभानुदत्तमिश्रविरचितायां रसतरंगिण्यां प्रकीर्णकं  
 नामाष्टमस्तरंगः ॥ ८ ॥

हमारे इलोकरूप जो कमल उनसे कर्णभूषण बनावो । आपकी कीर्तिकी अनु-वृत्तिके अर्थ आपका और ग्रन्थका नाम कहते हुए आपके यशकी फैलानेवाली बाँधेवीसे इच्छा करते हैं “यावत” इत्यादि इलोकसे । इलोकार्थ यह है कि जबतक सूर्यकी कन्या काचघटीवत् अनिर्वचनीया अद्भुत जलयुक्त कालिन्दी पृथिवीपर है तबतक मैं जो भानुमिश्र उसकी यह रसतरंगिणी स्थित रहो ॥

इति श्रीरसतरंगिणीभाषाटीकायां प्रकीर्णकं नामाष्टमस्तरङ्गः ॥ ८ ॥



पुस्तक मिलनेका ठिकाना—  
 खेमराज श्रीकृष्णदास,  
 “श्रीवेंकटेश्वर” स्टीम् प्रेस—बम्बई.



**COLLECTION OF VARIOUS**  
→ HINDUISM SCRIPTURES  
→ HINDU COMICS  
→ AYURVEDA  
→ MAGZINES

**FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)**

Made with  
By  
  
Avinash/Shashi

[creator of  
hinduism  
server]

